

अथ

खण्डचतुष्टयात्मक "श्राद्धविज्ञान"-ग्रन्थान्तर्गत

"पितर" स्वरूपविज्ञानोपनिषत्

द्वितीय काण्ड

२

व्याख्याता एवं भाष्यकार

पं० मोतीलालशर्म्मा-वेदवीथीपथिक

आङ्गिरसो भारद्वाज

भूमिका

मेरी रुचि का आधार 'वेद विज्ञान' स्वर्गीय पण्डित **मोतीलालजी शास्त्री** के लिखे हुए हिन्दी ग्रन्थ ही है। इन ग्रन्थो का खण्ड-खण्ड पारायण करते-करते वैदिक शब्दो के अर्थ समझ मे आने लगे और यह अनुभूति हुई कि सर्वसाधारण मे इनका प्रचार हो। स्वर्गीय पण्डित श्री **मोतीलाल जी शास्त्री** ने अपनी ५१ वर्ष की अल्पायु मे लगभग अस्सी हजार पृष्ठ लिख डाले जिनमे केवल दस हजार पृष्ठ ही अब तक प्रकाशित है। उन्हे तो स्वय श्री शास्त्री जी ही अपने जीवन-काल मे प्रकाशित कर गए। इसके बाद इस विशाल वैदिक वाङ्मय का कोई उपयोग ही नही हुआ।

पिछले एक वर्ष मे मैंने राजस्थान पत्रिका मे विज्ञान-वार्ता के नाम से एक साप्ताहिक स्तम्भ लिखना चालू रखा। मैने पाठको के मानस पर इस स्तम्भ का गहन प्रभाव देखा और अनुभव किया कि यह वैदिक कार्य अधिकाधिक प्रकाश मे लाया जाए। मैने राजस्थान पत्रिका के प्रबन्धक मण्डल के सामने प्रस्ताव किया कि हिन्दी मे लिखित श्री शास्त्री जी के ग्रन्थो का एक-एक करके प्रकाशन किया जाए। मुझे यह कहते हुए सर्वत्र प्रसन्नता है कि प्रबन्धकमण्डल ने बडे उत्साहकवर्द्धक भाव से प्रस्ताव को स्वीकृति प्रदान की। स्वर्गीय पण्डित श्री मोतीलाल जी शास्त्री के ज्येष्ठ पुत्र श्री **कृष्णचन्द्र शर्म्मा** ने सहर्ष सहयोग का हाथ बढाया और प्रकाशन का काम चालू हो गया।

श्री शास्त्री जी ने अपने गुरु, समीक्षा-चक्रवर्ती पण्डित **मधुसूदन जी ओझा** की वैज्ञानिक शैली पर चार खण्डो मे श्राद्धविज्ञान का प्रणयन किया था। प्रथम और तृतीय खण्ड का प्रकाशन तो वे स्वय कर गए थे। द्वितीय एव चतुर्थ खण्ड अप्रकाशित रह गए। श्री **कृष्णचन्द्र शर्म्मा** के साथ परामर्श करके हमने शेष दो खण्डो का प्रकाशन निश्चय किया, जिसका प्रमाण प्रस्तुत ग्रन्थ के रूप मे जैविकविज्ञान की यह श्रेष्ठ रचना है जो पाठको के समक्ष प्रस्तुत है।

यह सयोग की ही बात है कि इस ग्रन्थ का प्रकाशन भी इसके यशस्वी लेखक पण्डिल **मोतीलाल जी शास्त्री** की पुण्य तिथि २० सितम्बर, १९८६ के साथ ही हुआ है। मै आशा करता हूँ कि पाठक इससे अवश्य ही लाभान्वित होगे। हमारी चेष्टा होगी कि शनै शनै. श्री शास्त्री जी के शेष ग्रन्थ भी प्रकाश मे आयेगे। श्राद्धविज्ञान का चतुर्थ खण्ड प्रेस मे दिया जा चुका है। इस गुरुतर कार्य को सम्पन्न करने मे डा० **मदनगोपाल शर्म्मा** ने उल्लेखनीय योगदान किया है जिसके लिए वे साधुवाद के पात्र है डा० श्रीमती **उर्मिला शर्म्मा** ने ग्रन्थ के सम्पादन मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। शास्त्री जी के सुपौत्र श्री **प्रद्युम्नकुमार शर्म्मा** की देख-रेख मे प्रकाशन का कार्य सुचारू रूप से हो सका। मै उनके प्रति कृतज्ञता प्रगट करना चाहूँगा।

—कर्पूरचन्द 'कुलिश'



॥ श्री ॥

समर्पण

दिवंगत–चन्द्रलोकस्थ–महानात्ममूर्त्ति–स्वर्गीय–

पितुःश्री वेदवाचस्पति पं० मोतीलालजी शास्त्री

[निधन-तिथि आश्विन अमावस्या, सम्वत् २०१७]

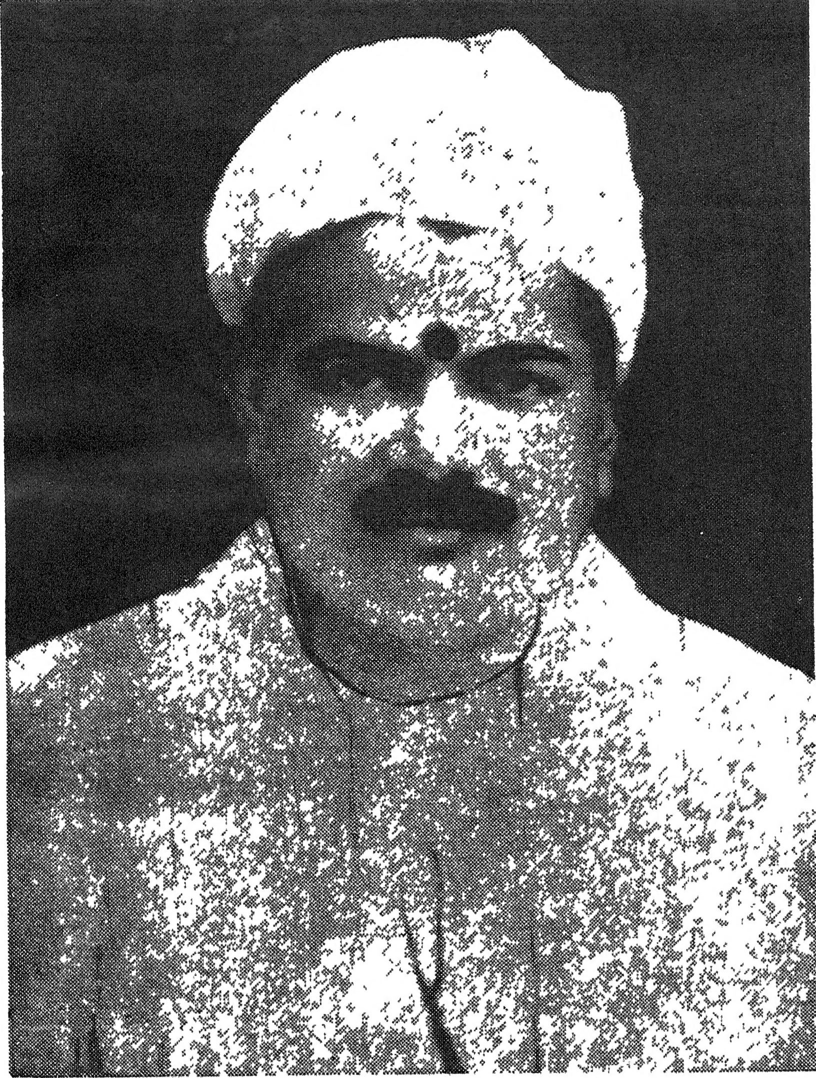
की २६वीं पुण्य तिथि के अवसर पर

श्राद्धकर्त्ता की ओर से श्रद्धापूर्वक

समर्पित

—कृष्णचन्द्र शर्मा (श्राद्धकर्त्ता)

मुद्रक:—
प्रद्युम्नकुमार शर्म्मा
श्री बालचन्द्र यन्त्रालय,
"मानवाश्रम", टोंक रोड,
जयपुर–302015



पूज्यपाद वेदवाचस्पति

पं. मोतीलालजी शास्त्री

[सन् 1908—1960]

अथ

खण्ड चतुष्टयात्मक "श्राद्धविज्ञान" ग्रन्थान्तर्गत 'पितरस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' नामक द्वितीय खण्ड की संक्षिप्त

विषयसूची

प्रमाणोपनिषत्—प्रथमा ३–४४

२—पितॄणांपितरविज्ञानोपनिषत्—द्वितीया ४५–१२२

३—दिव्यपितरविज्ञानोपनिषत्—तृतीया १२३-१३०

४—ऋतुपितरविज्ञानोपनिषत्—चतुर्थी १३१-१४९

५—प्रेतपितरविज्ञानोपनिषत्—पञ्चमी १५१-१६८





श्राद्धविज्ञानम्

"पितर" स्वरूपविज्ञानोपनिषत्

द्वितीय काण्ड

२



यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥१॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्त्तुमिहार्हसि ॥२॥

—गीता १६ अ० । २३,—२४ श्लोक ।



अथ

"पितर"स्वरूपविज्ञानोपनिषदि

'प्रमाणोपनिषत्'

प्रथमा

[१]

वेदोऽखिलो धर्म्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ।।१।।

यः कश्चित् कस्यचिद्धर्म्मो मनुना परिकीर्त्तितः ।।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ।।२।।

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्म्मे निविशेत वै ।।३।।

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्म्ममनुतिष्ठन् हि मानवः ।।
इह कीर्त्तिमवाप्नोति प्रेत्यचानुत्तमं सुखम् ।।४।।

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्म्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्म्मो हि निर्बभौ ।।५।।

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः ।।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ।।६।।

(मनु २ अ० । ६-११ श्लोक ।)

आर्षप्रजा की शास्त्रनिष्ठा—

अनन्त काल से झञ्झावात के प्रबल झोको को सहती हुई आर्यजाति किस बल के आधार पर आज तक स्थिर रह सकी ? कराल काल के कुटिल भ्रू विक्षेपो का उपहास करती हुई—आर्यसभ्यता, आर्यसस्कृति किस महाशक्ति के आधार पर आज तक अपना स्वरूप सुरक्षित रख सकी ? जहाँ का मौलिक साहित्य सरस्वती के अन्यतम शत्रु, कला के निकृष्टतम घातक नरराक्षसो के हम्मामो को गरम रखने के लिए महीनो तक ईधन के काम मे आता हुआ भी किस अमृत-सञ्जीवनी से आज तक जीवित दशा मे हमे उपलब्ध हो रहा है ? इत्यादि उद्वेगकर प्रश्नो के उत्तर है—**शास्त्रनिष्ठा ! आप्त वचन पर पूर्ण विश्वास !! ऋषियों की वाणी पर अनन्य श्रद्धा !!!**

'प्रमाण' शब्दमीमांसा—

युक्ति एव तर्कवाद उसी सीमा तक उपयोगी बना रहता है, जहाँ तक कि प्रत्यक्षवाद का सम्बन्ध है। प्रत्यक्षातीत विषयो मे अशास्त्रीय—निरर्थक शुष्क तर्कवाद कथमपि सफल नही हो सकता—**'तर्काप्रतिष्ठानात्'**। परोक्षतत्त्वो के सत्यासत्य का निर्णय परोक्षद्रष्टा महर्षियो के वचन पर ही अवलम्बित है। उन्होने अपनी आर्यदृष्टि से जिन तत्त्वो का साक्षात्कार किया है, उन तत्त्वो को शब्द द्वारा हमारे कान मे पहुँचाने वाला शास्त्र ही वेदशास्त्र है। यही हमारी विषय-सिद्धि के लिए इतरप्रमाणानपेक्ष स्वत प्रमाण है। जिस तत्त्व के आधार पर हमारा आतमा लक्षीभूत विषय की सत्यता का कारण बन जाता है, दूसरे शब्दो मे जो तत्त्व प्रमेय (विषय) सम्बन्धिनी प्रमा (ज्ञान) का जनक बन जाता है, विषय-सिद्धि का हेतु बन जाता है, वही तत्त्व विशेष—**"प्रमाजनकं प्रमाणम्"** इस निर्वचन के अनुसार **'प्रमाण'** नाम से व्यवहृत होता है। यह 'प्रमाण' तत्त्व **प्रत्यक्ष** (१) **अनुमान** (२) **उपमान** (३) **शब्द** (४)—भेद से प्रधानतया चार भागो मे (दर्शन मतानुसार) विभक्त माना गया है। इन चारो प्रमाणो मे प्रत्यक्ष प्रमाण ही इतर तीनो प्रमाणो का मूलाधार है। विज्ञान–परिभाषा के अनुसार इन चारो प्रमाणो का **प्रत्यक्ष-अनुमान,** इन दो प्रमाणो मे ही अन्तर्भाव है। दृष्टि-प्रमाण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है, एव युक्ति प्रमाण को अनुमान प्रमाण कहा जाता है। यह दृष्टि एव युक्ति, दोनो ही शब्द-अशब्द भेद से दो भागो मे विभक्त है। फलतः दो के चार प्रमाण हो जाते है। चर्म्मचक्षुओ (आँखो) से जो देखा जाता है, वह **"अशाब्दीदृष्टि"** है, एव बिना किसी प्रमाण को आधार बनाए प्रयुक्त होने वाला विशुद्ध तर्कवाद **'अशाब्दीयुक्ति'** है। चक्षुर्दृष्टिमूला अशाब्दी दृष्टि ही **'प्रत्यक्ष-प्रमाण'** है, एव विशुद्ध तर्कमूला अशाब्दी युक्ति ही **'अनुमान-प्रमाण'** है। यथाजात साधारण मनुष्यो के लौकिक व्यवहार प्राय इन्ही दोनो प्रमाणो पर अवलम्बित हैं। दूसरे शब्दो मे लौकिक मनुष्य प्रत्यक्ष शब्द से आँखो देखे का, एव अनुमान शब्द से तर्कवाद का ही ग्रहण किया करते है।

शाब्दी-दृष्टि, युक्ति—

विज्ञान दृष्टि से जो देखा जाता है, वह **'शाब्दीदृष्टि'** है, एव शाब्दी दृष्टि का अनुगमन करने वाला तर्कवाद **'शाब्दीयुक्ति'** है। दूसरे शब्दो मे इन्हे **'शास्त्रीय-दृष्टि'**—एव **'शास्त्रीय-युक्ति'** इन नामो से भी व्यवहृत किया जा सकता है शास्त्रीय दृष्टि **'प्रत्यक्ष-प्रमाण'** है, एव शास्त्रीय युक्ति **'अनुमान-प्रमाण'** है। प्रत्यक्ष प्रमाण का दृष्टार्थ से सम्बन्ध है, एव अनुमान प्रमाण का श्रुतार्थ से सम्बन्ध

है । किसी भी विषय को देख कर कहना दृष्टि है, एव किसी विषय को सुन कर कहना श्रुति । दृष्टि को श्रुति कहा जाता है, एव श्रुति को स्मृति कहा जाता है ।

तात्पर्य्य यह है कि, जिन अलौकिक इन्द्रियातीत विषयो का हम अपने चर्म्मचक्षुओ से प्रत्यक्ष करने मे सर्वथा असमर्थ रहते है, तप प्रभाव से विशुद्धान्त करणमना महर्षिगण उसी परोक्ष अर्थ का अपनी विज्ञान दृष्टि से साक्षात्कार कर लेते है । यही विज्ञानदृष्टि **"दिव्यदृष्टि" दिव्यचक्षु" "योगप्रत्यक्ष" "आर्षदृष्टि" "आर्षचक्षु"** इत्यादि विविध नामो से प्रसिद्ध हुई है । इसी दृष्टि का निरूपण करते हुए अभियुक्त कहते है—

अनागतमतीतञ्च वर्त्तमानमतीन्द्रियम् ।।
विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः ।।१।।
आविर्भूतप्रकाशानामनभिप्लुतचेतसाम् ।।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ।।२।।
अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ।।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ।।२।।

जो तत्त्व जैसा है, उसे वैसा ही समझना **'सत्यभाव'** है, विपरीत समझना **'असत्यभाव'** है । दूसरे शब्दो मे जिसकी सत्ता हो, उसी की भाति (ज्ञान) होना सत्य है,

स्वत—परत—प्रमाण्यवाद—

यही **"प्रमा"** ज्ञान है । सत्यज्ञान को ही **'प्रमाज्ञान'** कहा जाता है । सत्ता किसी अन्य की है, ज्ञान अन्य किसी का हो रहा है, यह अस्ति-भाति का पार्थक्य असत्यज्ञान है । **"यथास्ति-तथा प्रतिपत्तिः"** ही प्रमा है । जिसके आधार पर "सत्य-लक्षण" इस प्रमाज्ञान का उदय होता है, वही प्रमाजनक बनता हुआ **'प्रमाण'** कहलाया है । इस वैज्ञानिक लक्षण के अनुसार प्रथमत **प्रत्यक्ष-शब्द-अनुमान** ये तीन प्रमाण हो जाते है । इन तीनो मे अनुमान और शब्दप्रमाण प्रत्यक्षप्रमाण को मूल मे रख कर प्रमाण बनते है, अत इन दोनो को हम **'परत प्रमाण'** मानने के लिए तय्यार है । इतर प्रत्यक्षप्रमाण किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा न रखता हुआ **'स्वतः-प्रमाण'** नाम से प्रसिद्ध है ।

चक्षुरिन्द्रिय मे प्रकृति ने सत्य सत्त्व प्रतिष्ठित किया है । कारण इसका यही है कि चक्षुरिन्द्रिय का (साथ ही **'विज्ञानचक्षु'** नाम से प्रसिद्ध बुद्धि का भी) निर्माण सत्यभावापन्न* सूर्य्य से हुआ है । एव प्रत्यक्ष का सम्बन्ध चक्षु से ही है । अतएव चक्षुषा दृष्ट प्रत्यक्ष तत्त्व को हम अवश्य ही सर्वथा **'सत्य'**

*"तद्यत्तत्-सत्य, असौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुष" ।—शतपथ ब्रा० १४।८।३।

कहने के लिए तैय्यार है। यही कारण है कि यदि हमारे समीप किसी विषय की सूचना देते हुए दो मनुष्य आकर पृथक् पृथक् रूप से—"मैने ऐसा देखा है, मैने ऐसा सुना है" यह कहते है, तो जो मनुष्य "मैने ऐसा देखा है" यह कहता है, उमी पर हमारा विश्वास होता है। फलतः चक्षु का सत्यत्त्व सिद्ध हो जाता है। इसी सत्यभाव का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

***(१)—"सत्यं दीक्षा। तस्माद्दीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यम्। अथो खल्वाहुः—कोऽर्हति मनुष्यः सर्व सत्यं वदितुम्। सत्यसंहिता वै देवाः, अनृत-संहिता वै मनुष्याः। विचक्षणवतीं वाचं वदेत्। चक्षुर्वै विचक्षणम्। वि ह्येनेन पश्यति। एतद्ध वै मनुष्येषु सत्यं निहितं-यच्चक्षुः। तस्मादाचक्षाणमाहुः—अद्राक् इति। स यदि-'अदर्शम्' इत्याह, अथास्य श्रद्दधति। यद्यु स्वयं पश्यति (तदा) न बहूनां चनान्येषां श्रद्दधाति"**—ऐतरेय ब्रा० २।१।६

(२)—"सत्यं वै चक्षुः। सत्यं हि वै चक्षुः—तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवद-मानावेयातां—'अहमदर्शम्,—अहमश्रौषम्' इति, य एव ब्रूयात्—'अहमदर्शम्' इति, तस्मा (तस्मै) एव श्रद्दध्याम"।—शतपथ ब्रा० १।३।१।२७

*(१)—"सत्य दीक्षा है। इसलिए (यज्ञ मे) दीक्षित (यजमान) से सत्य ही प्रयुक्त होना चाहिए (दीक्षित को 'दीक्षा' की रक्षा के लिए सत्यभाषण ही करना चाहिए)। इस सम्बन्ध मे वैज्ञानिक कहते है (प्रश्न करते है) कि—'कौन मनुष्य सर्वात्मना सत्य बोल सकता है (अर्थात् मनुष्य जब सत्य-भाषण मे असमर्थ है, तो इसे यह असम्भव आदेश किस आधार पर दिया गया ?)। देवता ही निश्चयेन सत्यसहित (सत्यमर्य्यादा से मर्य्यादित) हैं, (उधर) मनुष्य (तो) असत्यसहित है (ऐसी दशा मे उक्त आदेश का क्या अर्थ है ? प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है, वह दीक्षित यजमान) विचक्षणवती (आँखो देखी) वाणी बोले चक्षुरिन्द्रिय ही विचक्षण है। इसी (चक्षु) से मनुष्य देखता है। मानव मे (प्रकृति की ओर से) यही वह सत्य प्रतिष्ठित हुआ है, जो कि चक्षु है। इसीलिए आँखो देखी बात कहने वाले मानव के प्रति यह कहा जाता है कि—अमुक ने वास्तव मे ठीक कहा है।' (यह नियम है कि किसी विषय का प्रतिपादन करने वाला मानव) यदि यह कहता है कि 'मैने देख लिया है' (देख कर ऐसा कह रहा हूँ) तो इस मानव पर लोग विश्वास कर लेते है। यदि कोई मानव स्वयं अमुक विषय का सा त्कार कर लेता है तो (अपने इस प्रत्यक्ष ज्ञान की तुलना मे) यह अन्य अनेक मानवो के (स्वदृष्ट से विरुद्ध) सुने हुए विषय पर विश्वास नही करता।"

(२)—"सत्य निश्चयेन चक्षु है। सत्य निश्चय ही तो चक्षु है। यही कारण है कि, 'मैंने ऐसा देखा है' 'मैने ऐसा सुना है' इस प्रकार परस्पर विवाद करते हुए उपस्थित मानवो मे से जो मानव—'मैं । ऐसा देखा है' कहता है, उसी पर हम विश्वास करते है।"

प्रत्यक्षप्रमाण के दो विवर्त्त—

प्रत्यक्ष—प्रमाणरूपा यह दृष्टि चर्म्म–विज्ञान भेद से दो भागो मे विभक्त है। चर्म्मचक्षु सर्वसाधारण है, विज्ञानचक्षु योगसाध्या होने से योगज है। यह दृष्टि तपस्वी महर्षियो मे तप-प्रभाव से उदित होती है, अतएव इसे **"आर्षदृष्टि"** कहते है, जैसा कि पूर्व मे कहा जा चुका है। साधारण लौकिक विषयो के सम्बन्ध मे चर्म्मचक्षु —सम्बन्धी प्रत्यक्षप्रमाण का अधिक महत्त्व है। जो मूढधी पारलौकिक विषयो के सम्बन्ध मे भी इसी दृष्टि को प्रधान मानते हुए, चर्म्मचक्षु से उनका साक्षात्कार करनें मे असमर्थ होते हुए उनकी सत्यता मे सन्देह करने लगते है, ऐसे लौकिक विशुद्ध चाक्षुष प्रत्यक्षवादी ही नास्तिक–चार्वाक कहलाए है—**"प्रत्यक्षमेवेति चार्वाकाः"**। उधर बुद्धिमान् मनुष्य लौकिक विषयो के सम्बन्ध मे जहाँ चर्म्मचक्षुः–सम्बन्धी प्रत्यक्ष का आदर करते है, वहाँ पारलौकिक अतीन्द्रिय विषयो के सम्बन्ध मे आर्षचक्षुष्मन्त महर्षियो के आर्षप्रत्यक्ष का ही समादर करते है। दोनो प्रत्यक्ष लौकिक–वैदिक भेद से सुव्यवस्थित है। इसी रहस्य को लक्ष्य मे रख कर **"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मक प्रत्यक्षम्"** (न्या० सू० १।१४) प्रत्यक्ष का यह लक्षण करते हुए आचार्य तन्मूलक शब्दप्रमाण का दिग्दर्शन कराते हुए—**"आप्तोपदेशः शब्दः, स द्विविध, दृष्टाऽदृष्टार्थत्त्वात्"** (१।१।७–८) यह सिद्धान्त स्थापित करते है। उक्त दोनो प्रत्यक्षो को सूत्रकाराभिमत बतलाते हुए भाष्यकार कहते है—

"आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्म्मा, यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा। साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः, तया प्रवर्त्तते इत्याप्तः। ऋष्यार्य्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्। तथा च सर्वेषां व्यवहाराः प्रवर्त्तन्ते। एवमेभिः प्रमाणैर्देवमनुष्यतिरश्चां व्यवहाराः प्रकल्पन्ते नातोऽन्यथा—इति। ++यस्येह दृश्यतेऽर्थः, स दृष्टार्थः। यस्यामुत्र प्रतीयते, सोऽदृष्टार्थः। एवमृषिलौकिकवाक्यानां विभाग इति। किमर्थं पुनरिदमुच्यते ? स न मन्येत–दृष्टार्थ एवाप्तोपदेशः प्रमाणम्–अर्थस्यावधारणात्–इति। अदृष्टार्थोऽपि प्रमाण–अर्थस्यानुमानात्–इति"।
(वात्स्यायनभाष्य १।१।७–८)

भाष्यकार का अभिप्राय यही है कि जो व्यक्ति अपने चर्म्मचक्षु से लौकिक विषय का साक्षात्कार कर, जैसा उसने स्वयं देखा है, ठीक वैसा ही कहने की इच्छा रखता हुआ वह **"आप्त"** कहलाता है। चाहे चर्म्मचक्षु से लौकिक विषय पर पहुँचा हो, अथवा आर्षचक्षु से अलौकिक विपय पर पहुँचा हो। उभयथा विषय का साक्षात्कार ही **आप्ति** है, ठीक निशाने पर पहुँच जाना ही आप्ति है। वह उपदेष्टा इस आप्तिभाव को लेकर ही हमें उपदेश देने के लिए प्रवृत्त हुआ है, अतएव वह **"आप्त"** कहलाता है। अपने–अपने प्रत्यक्ष–परोक्ष विपयो की आप्ति के सम्बन्ध से ऋषि–आर्य्य–म्लेच्छ, सब स्व स्व स्थान मे आप्त है। इन्ही आप्तो के उपदेश से लौकिक वैदिक सब व्यवहारो का सञ्चालन होता है।

इन्ही दोनो आप्तियो का और भी अधिक स्पष्टीकरण करते हुए आगे जा कर भाष्यकार कहते हैं कि जिस आप्तवाक्य का प्रतिपाद्य विषय चर्म्मचक्षु से देखा जा सकता है, वह

शब्दप्रामाण्यवाद—

वाक्य इस चर्म्मचक्षु से दृष्ट अर्थ का साधक बनता हुआ "दृष्टार्थ" है। एव जिस वाक्य के अर्थ का सम्बन्ध यहाँ न हो कर परलोक मे होता है, वह वाक्य "अदृष्टार्थ" है। इस प्रकार अदृष्टार्थ–सम्बन्धी ऋषिवाक्यो का, एव दृष्टार्थसम्बन्धी लौकिक वाक्यो का विभाग कर लेना चाहिए। "आप्तोपदेश शब्द." केवल इतना ही कह देने से दृष्टार्थ की तो प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती, कारण वहाँ उपदिष्ट अर्थ आँखो के सामने रहता है, फलत उस पर विश्वास होना सुगम है। परन्तु अदृष्टार्थ को प्रमाण न माना जाता। अपेक्षित इसकी भी प्रामाणिकता है। कारण, यह अर्थ प्रत्यक्षाधार पर प्रतिष्ठित होता हुआ अनुमानमूलक है।

परीक्षक महर्षि अपनी आर्षदृष्टि से पहिले स्वय उस विषय का साक्षात्कार करता है, अनन्तर अपने दृष्ट अर्थ (प्रत्यक्षीकृत विषय) को शब्दोपदेश के द्वारा अस्मदादि के लिए प्रयुक्त करता है। अपना देखा हुआ प्रत्यक्षार्थ वह अपने मुख से ही शब्द द्वारा (स्वप्रत्यक्षानुभव को शब्दरूप मे परिणत कर) कहता है। द्रष्टा परीक्षक का यह शब्द, दृष्टि का अनुसरण रखता हुआ हमारे लिए "श्रुति" बन जाता है। हम उससे वही सुनते है, जिसका हमने प्रत्यक्ष किया है। दूसरे शब्दो मे उसके लिए जो दृष्टि है, वही हमारे लिए शब्दरूपमयी श्रुति है। इसी उपदेश–परम्परा को लक्ष्य मे रख कर अभियुक्त कहते हैं—

"साक्षातकृतधर्म्माण ऋषयो बभूवुः। ते असाक्षात्कृतधर्म्मभ्योऽवरेभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः–'दैवींवाचमुद्यासमिति"। यास्कनिरुक्त।१२०।२।

द्रष्टा के मुख से निकला हुआ शब्द द्रष्टा की दृष्टि (प्रत्यक्ष दृष्ट अर्थ) को ही अपना विषय बनाता है, उधर शब्द और अर्थ का तादात्म्य माना गया है। इसी आधार पर हम इस दृष्टि–(प्रत्यक्ष) को ही श्रुति कह सकते है। प्रकारान्तर से यो समझिए कि, यदि हमे यह विदित हो जाता है कि **"यह शब्द द्रष्टा का कहा हुआ है"** तो इस प्रत्यभिज्ञा के अव्यवहितोत्तर काल मे ही इस शब्द पर हमारा विश्वास हो जाता है, उस समय मे हमे अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही रहती। अपितु द्रष्टा के इस शब्द से ही बिना किसी विप्रतिपत्ति के उस शब्द के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ को प्रत्यक्षवत् सुनते हैं। अतएव द्रष्टा का यह शब्द "श्रुति" के नाम से व्यवहृत होता है। यह श्रुति प्रत्यक्ष स्थानीया होती हुई इतर की अपेक्षा नही रखती, अतएव मीमासा ने इसका "निरपेक्षोरव श्रुति." यह लक्षण किया है। हाँ तो निष्कर्ष यह निकला कि, हम जो शब्द द्रष्टा के मुख से सुनते है, वह हमारे से श्रुत होने के कारण "श्रुति" कहलाता हुआ भी स्वय द्रष्टा की अपेक्षा से (शब्दार्थाभेदव्यवस्था से) साक्षात् दृष्टि (प्रत्यक्ष) होता हुआ, साथही मे हमारे आत्मा मे प्रत्यक्षवत् विश्वासोत्पत्ति का कारण बनता हुआ व्यवहार के लिए शब्दप्रमाण कहलाता हुआ भी वस्तुत "प्रत्यक्षप्रमाण" ही है। द्रष्टा का प्रत्यक्ष ही उसका वाक्य है। फलतः प्रत्यक्ष अर्थ, एव तदभिन्न शब्द दोनो एक वस्तु बन जाती है। "श्रुति" ही वेद है। यही शाब्दीदृष्टि किंवा शब्द

प्रमाण हमारे लिए प्रत्यक्ष प्रमाण होता हुआ, इतर प्रमाणो की अपेक्षा न रखता हुआ **स्वतः–प्रमाण** है। वेदशास्त्र की स्वत प्रामाणिकता मे आर्यजाति को न कभी सन्देह हुआ, न होगा। जिस प्रकार घटप्रत्यक्ष से हम घटपदार्थ पर बिना किसी सन्देह के विश्वास कर लेते है, एवमेव–वेद के शब्द–श्रवण मात्र से तच्छब्दवाच्य अर्थ पर हम प्रत्यक्षवत् विश्वास कर लेते है। मान लीजिए, किसी ने श्रौत अर्थ को सुना, सुन कर उस श्रोता ने हमसे कहा, ऐसी दशा मे इस श्रोता के वाक्य को हम श्रुति न कहकर **"स्मृति"** कहेगे। स्मृतिरूप शब्द श्रुत अर्थ को बतलाता है, अर्थदृष्टि का प्रतिपादन नही करता। इस शब्द से अर्थदृष्टि का अनुमानमात्र लगाया जाता है। अतएव स्मृतिप्रमाण को प्रत्यक्ष प्रमाण न कह कर हम **अनुमानप्रमाण** कहेगे। देखने वाले से सुना हुआ शब्द **श्रुति** है, सुनने वाले से सुना हुआ शब्द **स्मृति** है। सुनने वाला यदि देखने वाले के बोले हुए शब्द के आधार पर बोलता है, तब तो परम्परया इसमे भी प्रामाणिकता आ जाती है। यदि वह द्रष्टा के शब्द के विरुद्ध बोलता हुआ कुछ कहता है, तो उसका यह अनुमान प्रमाण प्रत्यक्षरूप श्रौत प्रमाण से च्युत हुआ अप्रमाण बन जाता है। **"विरोधेत्वनपेक्षं–स्यादसतिह्यनुमानम्"** (जै० दर्शन) के अनुसार श्रुतिविरुद्ध स्मृतिशब्द अशब्द बनता हुआ शब्दप्रमाण की कोटि से बहिर्भूत हो जाता है। इसी अभिप्राय से भगवान् मनु कहते है—

या वेदवाह्या स्मृतयोयाश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्तानिष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृता॰॥
मनु॰ १२।६५।

इस प्रकार पूर्व सन्दर्भ से यह भली भाति सिद्ध होजाता है कि, **प्रत्यक्ष–अनुमान–शब्द** पूर्वोक्त इन तीनो प्रमाणो मे से जो तीसरा शब्दप्रमाण है, केवल उसीके प्रत्यक्ष, एव अनुमान भेद से दो भेद होजाते हैं। **'श्रुति'** नामक शब्द द्रष्टा की दृष्टि से अभिन्न होता हुआ **'प्रत्यक्षप्रमाण'** है, एव **स्मृतिरूप** शब्द शब्दश्रुति को मूल बनाता हुआ, परत॰ प्रमाण कोटि मे प्रविष्ट होता हुआ **'अनुमानप्रमाण'** है। **"अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्"** (ब्रह्मसूत्र ३।२।२४) इत्यादि–सूत्र–व्याख्यानावसर पर भगवत्पाद शङ्कराचार्य ने **"प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्"** का **"श्रुतिस्मृतिभ्याम्"** यही अर्थ किया है। श्रुति **शाब्दीदृष्टि** है, स्मृति **शाब्दीतर्कयुक्ति** है, जैसा कि प्रकरण के आरम्भ मे कहा जा चुका है।

प्रमाणचतुष्टयी—

यह तो हुआ प्रत्यक्ष–अनुमान–शब्द भेद भिन्न तीनो प्रमाणो मे से केवल शब्द प्रमाण परिचय का दिग्दर्शन। अब प्रत्यक्ष, अनुमान, दो प्रमाण बच जाते है। बिना शब्द का चर्म्म चक्षु से सम्बन्ध रखने वाला लौकिक प्रत्यक्ष, प्रत्यक्ष है, बिना शब्द का ही विशुद्ध तर्कवाद (प्रत्यक्षमूलक) अनुमान है। चाक्षुष-ज्ञानरूपा दृष्टि अशाब्दी दृष्टि ही **लौकिक प्रत्यक्षप्रमाण** है, अशाब्दी युक्ति ही **लौकिक अनुमानप्रमाण** है। इस प्रकार शब्दप्रमाण के द्वैविध्य से तीन के स्थान मे चार प्रमाण हो जाते है।

१
प्रत्यक्षम्—[१—१—प्रत्यक्षम्—अशाब्दम्—दृष्टि—स्वत प्रमाणम् } —लौकिके
२
अनुमानम्—[२—२—अनुमानम्—अशाब्दम्—युक्ति—परत प्रमाणम्

—*—

३
शब्दः—{ ३—१—प्रत्यक्षम्—शाब्दम्—श्रुति—स्वत प्रमाणम् } —वैदिके
{ ४—२—अनुमानम्—शाब्दम्—स्मृति—परत.प्रमाणम्

१–शब्द –{ १–श्रुति–दृष्टि (द्रष्टुर्वाक्य श्रुति)-प्रत्यक्षम्-शाब्दीदृष्टि.-शास्त्रीयप्रत्यक्षम् स्वतः प्रमाणम्
{ २-स्मृति -श्रुति (श्रोतुर्वाक्य स्मृति*)-अनुमानम्-शाब्दीयुक्ति -शास्त्रीयतर्कवाद परत प्रमाणम्

२–प्रत्यक्षम्–[३—दृष्टि –(चाक्षुषप्रत्यक्ष दृष्टि)–प्रत्यक्षम्-चाक्षुषीदृष्टि -लौकिकप्रत्यक्षम्-स्वतः प्रमाणम्

३–अनुमानम्-[४—युक्ति—(तर्कवादी-युक्ति)–अनुमानम्-लौकिकीयुक्ति-विशुद्धतर्कवाद –परत. प्रमाणम्

वृद्धव्यवहार की प्रामाणिकता—

चाक्षुषदृष्टि से दृष्ट भौतिक विश्व का सञ्चालन किसी अदृश्य शक्ति के आधार पर ही हो रहा है, यह निर्विवाद विषय है। वही अदृश्य शक्ति, किंवा शक्तिमान् पुरुष **"अन्तर्य्यामी"** नाम से प्रसिद्ध है। इस अन्तर्य्यामी शास्ता पुरुष का वह अदृश्य लोक ही **'परलोक'** नाम से प्रसिद्ध है। परलोक ही इस लोक की प्रतिष्ठा है। जिन महापुरुष ने श्रुति स्मृति के द्वारा इस अदृश्य जगत् का स्वरूप हमारे सामने रखने का अनुग्रह किया है, उसको अभिनिवेश मे पड कर हम उपेक्षावृत्ति मे डाल दें, इस से बढ़ कर हमारा और अहित क्या हो सकता है। अवश्य ही **आत्म–परमात्म–परलोक–आत्मगति–श्राद्धकर्म्म–** इत्यादि इन्द्रियातीत विषयो के सम्बन्ध मे हमें श्रुति स्मृति का अनुगमन करना चाहिए। थोडी देर के लिए पारलौकिक विषयो को छोड दीजिए। बिना लौकिक शब्द प्रमाणरूप प्रत्यक्ष, एव युक्तिरूप अनुमान प्रमाण के लौकिक व्यवहारो का भी सञ्चालन नही हो सकता। आप बाजार जाते है, केवल वृद्धव्यवहार के आधार पर तत्तदभिलषित वस्तुओं का क्रय कर लेते है। हम आप से पूछते हैं कि, क्या कभी आपने

*स्मृति स्वय शास्त्रीय तर्कमूला है। उधर धर्म्म स्मृतिमूल है। अतएव धर्म्मनिर्णय मे इस शास्त्रीय तर्क को ही प्रधान माना है, जैसा कि स्मृति कहती है—

आर्षं धर्म्मोपदेश च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसधत्ते स धर्म्मं वेद नेतर ॥ (मनु)

जौ–गेहूँ–उर्द–मूंग–घृत–तन्दुल-आदि अन्नो की पूर्ण परीक्षा कर यह निश्चय कर लिया है कि यही जौ है, यही गेहू है, यही उर्द, मूग आदि है। यदि कभी परीक्षा नही की, तो फिर आप (बिना परीक्षा किए ही) यह जौ है, यह गेहू है, यह विश्वास किस आधार पर कर लेते है। साथ ही मे अमुक अन्न मे अमुक गुण है, अमुक मे अमुक गुण है—यह विश्वास कैसे कर बैठते है। एवमेव एक भिषग्वर आपको सोठ, मिर्च, पिप्पल के क्वाथ के लिए औषधपत्र (नुसखा) लिख देता है। आप एक पन्सारी की दूकान पर जाते है। आप यह जानते हैं कि ज्ञानदृष्टि से पन्सारी आपके सामने अयोग्य है, फिर भी केवल उसी के विश्वास पर उससे दी गई वस्तुओ को सोठ-मिर्चादि मान कर आप सन्तुष्ट हो जाते है। क्या कभी आपने इन औषधियो की परीक्षा की थी। नही तो फिर क्यो विश्वास किया ? इन सब प्रश्नो के समाधान के लिए सिवाय प्रत्यक्षकर्त्ता आचार्यों के शब्दोपदेश के आपके पास दूसरा कोई समाधान नही है। वृद्धव्यवहार, प्रत्यक्षकर्त्ता वृद्धो का शब्दादेश ही आप के विश्वास के लिए पर्य्याप्त है।

यदि दुर्भाग्यवश आप—**"हम तो बिना परीक्षा किए, बिना प्रत्यक्ष किए बात नहीं मानते"** इस दुराग्रह मे पड जायगे तो उन्नति की कथा दूर रही जीवन ही सकट मे पड जायगा। बाध्य होकर आपको शब्दप्रमाण का आश्रय लेना पडेगा। जिस प्रकार लौकिक दृष्टार्थ विषयो के सम्बन्ध मे आप स्वय प्रत्यक्ष न करते हुए भी प्रत्यक्षकर्त्ता वृद्धो के शब्दादेश पर विश्वास करते हुए तत्तल्लौकिक व्यवहारो मे प्रवृत्त होते है, एवमेव आपको अलौकिक अदृष्टार्थ विषयो के सम्बन्ध मे स्वय उनका प्रत्यक्ष न करते हुए भी प्रत्यक्ष-कर्त्ता ऋषियो के शब्दादेशरूप श्रुति-स्मृति शास्त्र प्रामाण्य पर कभी अविश्वास नही करना चाहिए। यदि आप यह कहे कि, यदि हम चाहे तो दृष्टर्थों का प्रत्यक्ष कर सकते है। हम कहेगे—यह हमारे लिए इष्टापत्ति है। प्रयास से आप क्या नही कर सकते। यदि विद्यालयो मे अध्ययन का परिश्रम कर आप औषधियो की परीक्षा कर सकते है तो—**सत्यभाषण, ब्रह्मचर्य–अहिंसा–वेदानुपालन–श्रद्धा–उपनिषत्–**आदि इन उपायो से चिरकाल की तपश्चर्या से उत्पन्न योगजदृष्टि से आप उन अलौकिक अदृष्टार्थो का भी प्रत्यक्ष कर ही सकते है। दोनो जगह समान प्रश्न है, समान समाधान है। हाँ, एकमात्र दुराग्रह की चिकित्सा न इस लोक मे है, न परलोक मे है—**"नतु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्"**।

श्राद्धकर्म्मानुगत प्रामाण्यवाद—

श्राद्ध–कर्म्म का **आत्मा** से सम्बन्ध है, **पितर-प्राण** से सम्बन्ध है, **श्रद्धासूत्र** से सम्बन्ध है, **परलोक** से सम्बन्ध है। सभी अदृष्टार्थ है। फलत इनके सम्बन्ध मे शब्द-प्रमाण सर्वथा आवश्यक बन जाता है। केवल तर्कवाद पर, अथवा (कुछ एक महानुभावो की दृष्टि मे कल्पनाप्रधान, अतएव प्रमाण कोटि से बहिष्कृत) **पुराण तन्त्र-निबन्ध** आदि कल्पित प्रमाणो के आधार पर श्राद्धकर्म्म को विश्वस्त कर्म्म नही माना जा सकता। इस की प्रामाणिकता के लिए श्रुतिस्मृति प्रमाण, उस मे भी प्रधानतया श्रुति-प्रमाण, उस मे भी विशेजत श्रुति के ससहता भाग का ही प्रमाण अपेक्षित है। **'शब्द प्रमाणका वयं यदस्माकं शब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्"**। अब देखना यह है कि, श्रुति-स्मृति मे, विशेषतः श्रुति मे **श्राद्धकर्म्म** को शास्त्रीय कर्म्म सिद्ध करने वाले **दृढ–दृढतर–दृढतम** प्रमाण उपलब्ध होते है, अथवा नही।

पूर्व–प्रतिपादिता **'आत्मविज्ञानोपनिषत्'** से विज्ञ पाठको को यह भलीभाँति विदित हो गया होगा कि, **अध्यात्मसस्था** मे **पुरुष–अव्यक्त–यज्ञ आदि** भेद से आत्मविवर्त्त अनेक भागो मे विभक्त है । इन सब **खण्डात्माओ** मे से **श्राद्धकर्म्म** का सम्बन्ध एकमात्र प्रज्ञानात्मगर्भित **महानात्मा** के साथ ही है । यह चान्द्र महानात्मा पितृप्राणमय है । **श्राद्ध** के द्वारा महानात्मा मे प्रतिष्ठित **प्रेत पितरो** को **'स्वधा'** द्रव्य से तृप्त किया जाता है । स्वधान्न से तृप्त पितर स्ववंश मे प्रजातन्तु को सम्यक्रूप से (सन्तान रूप से) वितत रखते है, यही इस कर्म्म का प्रधान फल है । आत्मस्वरूप के निरूपण के अनन्तर हमारा यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि, पितरप्राण का वैज्ञानिक स्वरूप पाठको के सम्मुख उपस्थित किया जाय ।

जिस प्रकार श्रुति का **"आत्म"** शब्द जटिल है, एवमेव **"पितर"** शब्द भी सर्वथा मीमास्य है । विचार सागर के अन्तस्तल पर पहुचे हुए श्रौततत्त्ववेत्ता विद्वान् यदि **मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद** के पितर शब्द पर दृष्टि डालेगे तो उन्हे यह मान लेने मे कोई आपत्ति न होगी कि, पितर शब्द वास्तव मे किसी गुहा-निहित रहस्य से सम्बन्ध रखता है । श्रुति मे पितर शब्द—१—**अग्नि**, २—**सोम**, ३—**ऋतु**, ४—**संवत्सर**, ५—**विट्**, ६—**मास**, ७—**औषधि**, ८—**यम**, ९—**अपराह्ण**, १०—**कूप**, ११—**नीवि**, १२—**मघा**, १३—**मन**, १४—**ह्लीक**, १५—**ऊष्मा**, १६—**ऊम**, १७—**ऊर्व**, १८—**काव्य**, १९—**देव**, २०—**प्राण**, २१—**रात्रि**, २२—**अवान्तर दिशाएँ**, २३—**तिर**, २४—**सुप्तभाव**, २५—**अग्नि से खाया जाने वाला तत्त्व**, २६—**मर्त्य तत्त्व**, २७—**प्रजापति**, २८—**गृहपति**, २९—**वाक् मन का समुच्चय**, ३०—**अन्न** इत्यादि भेद से अनेक भावो के लिए प्रयुक्त हुआ है । जीवित **पिता** पितामहादि भी **"पितर"** न कहलाते हो यह बात नही है–**"पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति"** मे पिता शब्द जीवित (शरीर) भाव का ही अनुग्राहक है । यह सब कुछ मान लेने पर भी यह सर्वथा नि.सदिग्ध विषय है कि, जिन पितरो के लिए श्राद्ध का **विधान** है, वे **प्रेत-पितर** ही है, जैसा कि आगे के प्रकरणो से स्पष्ट हो जायगा । **प्रथम** सहिता भाग मे उपात्त पितर-तत्त्व का साक्षात्कार कीजिए, साथ ही मे मीमासा-सम्मत अर्थसङ्गति-विषयक नियमो के अनुसार बिना किसी पक्षपात के उनका क्या अर्थ हो सकता है ? यह विचार कीजिए ।

वेदसंहितोक्तप्रामाण्यवाद—

१–उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ।। ऋक्० १०।१।१

"**प्रथम मध्यम** एव **उत्तम** श्रेणि के पितर (हमारे लिए) सौम्य (अनुग्रह करने वाले) बनते हुए (हमारी) उन्नति के कारण बने । ऋतु को पहिचानने वाले अहिसक पितर, प्राण-प्रदाता है । ऐसे वे पितर हमारी प्रार्थना सुने, हमारी रक्षा करे ।"

मन्त्र के अक्षरार्थ से यह सिद्ध होता है कि, पितर कोई तत्त्व-विशेष है, प्राणविशेष है । पितर प्राण का सोम तत्त्व से सम्बन्ध है । साथ ही मे यह तत्त्व प्राणशक्ति का प्रदाता है । यदि श्रुत्युक्त पितर का

जीवित पितर-परक अर्थ लगाया जाता है, तो वह कथमपि सङ्गत नही होता। कारण, प्रत्येक व्यक्ति के लिए जीवित पिता पितामह आदि समान रूप से पूज्य है। उनमे प्रथम–मध्यम–उत्तम, इस प्रकार का लौकिक श्रेणिविभाग सर्वथा असङ्गत है।

—**—

२–त इद्देवानां सधमाद आसनृतावानः कवयः पूर्व्यासः।
गूलहं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन्त्सत्यमन्त्रा अजयन्नुषासम्॥

ऋक्० ७।७६।४।

"ऋत मार्ग (सरल मार्ग) के अनुयायी, भृगुवशी पूर्वकालिक वे अङ्गिरा नाम के पितर ही देवताओ के साथ प्रेम करने मे समर्थ हुए। गुहानिहित ज्योति (सूर्य्य) को इन्होने ही प्रकट किया। सत्यब्रह्म के उपासक, किवा सत्यमन्त्र (ब्रह्म) मूर्त्ति इन पितरो ने ही उषा को उत्पन्न किया।"

प्रकाश—उषा आदि तत्त्व प्राकृतिक है जो पितर इन प्राकृतिक तत्त्वो के उपादान (उत्पादक) माने जाते है, उनका जीवित पितरो के साथ कोई सम्बन्ध नही हो सकता। अवश्य ही यह पितर प्राण आधिदैविक जगत् की कोई मौलिक प्राणात्मक वस्तु होनी चाहिए।

—**—

३–सरस्वति या सरथं ययाथ स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती।
आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयस्वानमीवा इष आधेह्यस्मै॥–ऋक्० १०।१७।८

"पितरो के साथ रथ पर आरूढ होती हुई, एव स्वधा नामक अन्न से मोदमान होती हुई हे सरस्वती देवी! इस यज्ञ मे विराजमान होकर आप प्रसन्नमूर्ति बनिए, हमे एव हमारे अन्नो को निर्दोष कीजिए।"

इस मन्त्र ने सरस्वती नाम की वाग् देवता के साथ पितरो का सम्बन्ध बतलाया है। परमेष्ठी के **सरस्वान** समुद्र से ही इस सरस्वती वाक् का विनिर्गम है। उसी सौम्य परमेष्ठी मण्डल मे सौम्य प्राण-रूप पितरतत्त्व प्रतिष्ठित है। ऐसी स्थिति मे पितर शब्द को जीवित पितादि परक ही मानना क्या शास्त्रसम्मत पक्ष है?

—**—

४–प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः।
शिवाः सतीरुप नो गोष्ठमाकस्तासां वयं प्रजया संमदेम॥

—ऋक्० १०।१६९।४

"**विश्वेदेव**" नामक (पारमेष्ठ्य) देवता, एव पितरो के साथ सयुक्त होते हुए (मिलते हुए) प्रजापति (परमेष्ठी) मेरे लिए गौसपत्ति प्रदान करते है। वह प्रजापति देवता कल्याणकारिणी बनती हुई, उन गायो को हमारे गोस्थान (गौशाला) के सन्निकट करे, एव उन गौसतानो से (गोवश से) हम प्रसन्न हो।"

भृगु–अङ्गिरात्मक परमेष्ठी ही मैथुनी दृष्टि से अधिष्ठाता बनते हुए **प्रजापति** है। सायसवनीय देवता ही "**विश्वेदेव**" है। रात्रि का उपक्रम काल ही सोमोपक्रम काल है। सोम परमेष्ठी की ही वस्तु है। विश्वेदेव एव पितर दोनो प्राणो की प्रतिष्ठा सौम्य परमेष्ठी ही है। परमेष्ठी मे ही सहस्रधा विभक्त गोतत्त्व उत्पन्न होता है। इसी को "**व्रजं गच्छगोष्ठानम्**" (यजु० स० १।२५) इत्यादि रूप से **व्रज** नाम का गोष्ठान (गोचारणस्थान) कहा गया है। इसी पारमेष्ठ्य वैष्णव गौतत्त्व को लक्ष्य मे रखकर "**या ते धामान्युष्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा अयासः**" (यजुः स० ६।३) यह कहा जाता है। पूर्व मन्त्र इसी गौप्रवर्त्तक पारमेष्ठ्य सौम्य प्राण को **पितर** शब्द से सम्बोधित कर रहा है।

—**—

५–अतिद्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा।
अथा पितॄन्त्सुदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥१॥

६–यौ ते श्वानौ यमरक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ।
ताभ्यामेनं परिदेहि राजन् स्वस्ति चास्मा अनमीवञ्च धेहि ॥२॥

—(ऋक् स० १०।१४।१०।११

"हे (प्रेत) पितर! (परलोक जाने वाले प्रेतात्मन्) (आप) चार आँखो वाले, श्यावशबल (चितकबरे) सारमेय नाम से प्रसिद्ध दोनो कुत्तो से बच कर जाइए। तुम्हे उत्तम पितृलोक प्राप्त हो, जहाँ के कि पितर यम के साथ आनन्दित होते है।"

उक्त दोनो मन्त्रो मे जिन दो कुत्तो के साथ जिन पितरो का सम्बन्ध बतलाया गया है, वे अवश्य स्थूल शरीर छोड कर लोकान्तर मे जाते हुए **प्रेतपितर** (प्राणात्मक पितर) हैं।

द्वौ श्वानौ श्यावशबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ।
ताभ्यामन्नं प्रयच्छामि स्यातावेत्तावहिंसकौ ॥

इत्यादि रूप से परलोक जाते हुए प्रेतात्मा को दक्षिण आकाश मे स्थित नाक्षत्रिक याम्य श्वान प्राणो के आघात से बचाने के लिए उन श्वानो के लिए बलि दी जाती है, जैसा कि पद्धति–प्रकरण मे विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

७—यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्म्मेभिरायतः ।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयाप वयेत्यासते तते ।।—ऋक्० १०।१३०।१।

"जो यज्ञ चारो ओर से (अहर्गणात्मक) तन्तुओ से फैला हुआ है, एक शत (१००) देव कर्म्म से (१०० आयु.-सूत्रो से) जो वितत हो रहा है, उस (वितान) यज्ञ को पितर लोग बुनते है। वे पितर प्राणात्मक है, एव साथ ही मे वे कहते है कि **आगे आगे बुनते जाओ-पीछे का ठीक करते हुए"** ।

हमारा शरीर एक प्रकार का आयु सूत्रात्मक वस्त्र है। शुक्र मे प्रतिष्ठित पितर प्राण ही प्राणो का ताना-बाना लगा कर इस शरीरात्मक वस्त्र का निर्म्माण करते है। फलतः इस पितर की प्राणात्मकता सिद्ध हो जाती है।

—**—

८—पाकः पृच्छामि मनसाऽविजानन् देवानामेना निहिता पदानि ।
वत्से बष्कये ऽधि सप्ततन्तून् विततिनरे कवय ओतवा उ ।।१।। ऋ० १।१६४

९—महिम्न एषां पितरश्च नेशिरे देवा देवेष्वदधुरपि क्रतुम् ।।
समविव्यचुरुत यान्यत्विषुरैषां तनूषु निविविशुः पुनः ।।२।।

१०—सहोर्भिविश्वं परिचक्रमूरजः पूर्वा धामान्यमिताभिमानाः ।।
तनूषु विश्वा भुवनानि येमिरे प्रासारयन्त पुरुध प्रजा अनु ।।३।।

११—द्विधा सुनवो ऽसुरं स्वर्विदमास्थापयन्त तृतीयेन कर्म्मणा ।।
स्वां प्रजां पितरः पित्र्यं सह आवरेष्यदधुस्तन्तुमाततम् ।।४।।

१२—नावा न क्षोदः प्रदिशः पृथिव्याः स्वस्तिभिरति दुर्गाणि विश्वा ।।
स्वां प्रजां बृहदुक्थो महित्वा ऽवरेष्वदधादापरेषु ।।५।।

"चन्द्रमा से आने वाले 'सह प्राण' की प्रतिष्ठाभूत शुक्र ही पितरप्राण की आवास भूमि है। शुक्रभुक्त यह सहोमूर्ति पितरप्राण सात पीढी तक वितत होता हुआ सापिण्ड्य भाव का कारण बनता है। उपर्युक्त पाँचो मन्त्र सापिण्ड्यप्रवर्त्तक इसी पितरप्राण का कर्म्मविज्ञान बतला रहे है। इन मन्त्रो का सोपपत्तिक निरूपण आगे आने वाली "**सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्**" मे होने वाला है।

१३–ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।।
तेभ्यः स्वरा ऽ सुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयन्ति ।। (यजु. १९।६०)

"अग्नि से खाए हुए–अतएव '**अग्निष्वात्ता**' नाम से प्रसिद्ध, अग्नि से न खाए हुए, अतएव **अनग्निष्वात्ता**' नाम से प्रसिद्ध पितर (हमारे दिए हुए) स्वधा अन्न से अन्तरिक्ष मे आनन्दित हो रहे है। उन मोदमान पितरो के लिए दीप्तिमान अग्नि कामनानुसार नवीन शरीर (आतिवाहिक शरीर) का निर्म्माण करते हैं"।

मन्त्रोपात्त अग्निष्वात्तादि पितर प्राणात्मक प्रेत पितर के ही उपोद्‌बलक माने जा सकते है। क्या जीवित पितर अन्तरिक्षलोक मे निराधार प्रतिष्ठित रह सकते है ?

—**—

१४—"नमो वः पितरो रसाय, नमो वः पितरः शोषाय, नमो वः पितरो जीवाय, नमो वः पितरः स्वधायै, नमो वः पितरो घोराय, नमो वः पितरो मन्यवे, नमो वः पितरः, पितरो नमो वः, गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मै तद्वः पितरो वासः।" (यजुः स० २।३२)

मन्त्रप्रदर्शित रस–शोष–जीव–स्वधा—घोर–मन्यु–लक्षण पितर प्राणात्मक प्राकृतिक पितर ही हो सकते है।

—**—

१५—ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम् ।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितृन् ।। (यजु स० २।३४)

"बलप्रद ऊर्क् रस, 'अमृत' नामक शिवतम सोमरस, घृत नामक आन्तरिक्ष्यरस दुग्धरस, आदि अनेक रसो को धारण करने वाले हे जल देवता ! आप स्वधा बनकर मेरे पितरो को तृप्त करो"।

इस मन्त्र मे स्पष्ट शब्दो मे जलाञ्जलि से पितृतर्पण का उल्लेख हुआ है।

—**—

१६—एतत् ते प्रततामह ये स्वधा ये च त्वामनु ।। (अथर्व० १८।४।७५)

"हे प्रततामह ! (प्रपितामह) आपके लिए (श्रद्धापूर्वक) दिया हुआ अन्न आपके लिए स्वधा (अन्तर्य्याम सम्बन्ध से आपका भोग्य) बने, साथ ही मे जो आपके अनुयायी है, उनके लिए भी स्वधा बने"।

प्रदत्त पिण्डान्नरूप स्वधा से परलोकस्थ पितामह–प्रपितामहादि तृप्त होते है, इस से बढ़कर श्राद्ध की प्रामाणिकता के लिए और कौनसा प्रमाण चाहिए ?

—※—

१७—मैनमग्ने विदहो माभि शूशुचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम् ।
शृतं यदा करसि जातवेदो ऽथेमेनं प्रहिणुतात् पितृभ्यः ।।
(अथर्व० १८।२।४)।

"हे क्रव्यादग्ने ! आप इस प्रेत शरीर को कष्ट के साथ न जलावे, इसे शोकसतप्त न करें, इसकी चमडी बाहर न फैंके, अपितु (इसके आत्म भाग को सुरक्षित रखते हुए) शरीर (शव) को सर्वात्मना जला डालिए। हे जातवेदा अग्ने ! जब शरीर जलने पर प्रेतात्मा परिपक्व हो जाय, तो उस अवस्था मे आप इसे पितरो के अधिकार मे कर दे। अर्थात् पितृलोक मे स्थित इसके पूर्व पितरो के साथ इसका सापिण्ड्य भाव करा दे।"

—※—

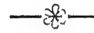
१८—समिन्धते अमर्त्य हव्यवाहं घृतप्रियम् ।
स वेद निहितान् पितृन् परावतो गतान् ।। (अथर्व० १८।४।४१)।

"मरणरहित एव घृतप्रिय (देवताओ के हव्यवहन करने के कारण) '**हव्यवाहन**' नाम से प्रसिद्ध अग्नि को (प्रकृतिरहस्यवेत्ता यज्ञसचालक ऋत्विक्लोग सामिधेनी रूप मन्त्रशक्ति से) *समिद्ध करते है। क्योकि यह (समिद्ध) अग्नि गुप्त सम्पत्तियो को पहिचानने वाले है, साथ ही मे (पृथिवी लोक से) बहुत दूर रहने वाले (प्रजाप्रवर्त्तक) पितरो को भी यही पहिचानते है। (ऋत्विजो को यज्ञ द्वारा यज्ञाधिष्ठाता यजमान के लिए पार्थिव धन सम्पत्ति, एव पितर–प्राण मूलक प्रजा सम्पत्ति ही अपेक्षित है, एव दोनो

*पार्थिव अग्नि भूतप्रधान है। इसके साथ सौर प्राणदेवता का सम्बन्ध करना है। जिस मन्त्रबल प्रयोगरूप विशेष प्रक्रिया से पार्थिव प्रज्वलित अग्नि को सौर तत्त्व से युक्त कर इसे दिव्यशक्ति युक्त बनाया जाता है, वही प्रक्रिया "**समिन्धन**" नाम से प्रसिद्ध है। अध्वर्यु इसे प्रज्वलित करता है, होता सामिधेनी मन्त्रो के द्वारा इसे समिद्ध करता है। यही समिद्ध अग्नि वसुवित् है– "वयुनानि विद्वान्" (देखिए शत० ब्रा० सामि० ब्राह्मण)।

सम्पत्तियो के अधिष्ठाता समिद्ध (वैध–याज्ञिक) अग्नि ही है। अत. उक्त फल प्राप्त्यर्थ अग्नि का समिन्धन आवश्यक है)।"

मन्त्र ने जिस समिद्ध अग्नि को स्पष्ट शब्दो मे "**परावत**" कहते हुए जिन परलोकगत पितरो को पहिचानने वाला बतलाया है, क्या वह पितर जीवित पितर है ?

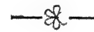


१९—यद्वो अग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयं जातवेदाः । तद्व एतत् पुनराप्याययामि साङ्गाः स्वर्गे पितरौ मादयध्वम् ।।

—अथर्व० १८।४।६४।

"हे पितर देवताओ! परलोक मे जाते हुए आपके जिस एक* अङ्ग को जातवेदा अग्नि ने छोड दिया है, (अग्नि से परित्यक्त) उस अङ्ग को (इस आहुति के द्वारा) मै पुन पूर्ण करता हूँ। आप पूर्णाङ्ग बनते हुए स्वर्ग मे आनन्द कीजिए'।

मन्त्र ने आहुति के द्वारा पितरो को तृप्त करना बतलाया है। हमारे द्वारा नही, अग्नि के द्वारा। अवश्य ही मन्त्रोपात्त 'पितर' शब्द प्राणी का वाचक न होकर प्राण का ही वाचक है।



२०—जीवानामायुः प्रतिरत्वमग्ने पितृणां लोकमपि गच्छन्तु ते मृताः । सु गार्हपत्यो वितपन्नरातिमुषामुषां श्रेयसीं धेह्यस्मै।। अथर्व० १२।२।४५।

हे अग्ने! जीवित दशा मे आप (प्राणी की) आयुवृद्धि करे, मरने पर उन्हे पितृलोक पहुँचाने का अनुग्रह करे। कृपण मनुष्य को दग्ध करते, इस प्राणी के शत्रुओ को जलाते हुए हे गार्हपत्य (अग्ने)! इस जीवात्मा के लिए (प्रेत पितर के लिए) आप कल्याणकारिणी नूतन-नूतन उषाओ को धारण करें।"

वेद महर्षि ने स्पष्ट ही मृत्यु के अनन्तर पितरात्मक प्राणी का परलोक गमन बतलाया है। अवश्य ही वह पितृलोक प्राणात्मक पितर से युक्त होना चाहिए।

*भूवायु से सम्बन्ध रखने वाला हंसात्मा पार्थिव कर्मात्मा का ही एक अङ्ग है। यह कर्मात्मा के साथ लोकान्तर मे जा कर यही भूवायु मे रह जाता है, जैसा कि पूर्व की "प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्" मे विस्तार से बतलाया जा चुका है। अग्नि इस अङ्गरूप हंसात्मा को यही छोड देता है। इसकी तृप्ति के लिए स्वतन्त्र हवि दी जाती है।

२१—ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चो द्धताः ।
सर्वास्तानग्ने आवह पितृन् हविषे अत्तवे ।। —अथर्व० १८।१।३४।

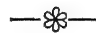
"जो भूमि मे गाड़े गये है, जो पानी मे बहा दिए गए हैं, जो अग्नि में जला दिए गए हैं, एवं जो यो ही फेंक दिए गए हैं, हे अग्ने ! उन सबको आप हवि (श्राद्धान्न) भक्षणार्थ बुलाइए ।"

यह मन्त्र तो स्पष्ट शब्दो मे ही मृत पितरो के लिए श्राद्धान्न का विधान कर रहा है। मन्त्र से यह भी विदित होता है कि, वैदिकयुग मे शवदाह के सम्बन्ध मे चार प्रकार की पद्धतियाँ प्रचलित थी। अदन्तक शिशुओ को जमीन मे गाडा जाता था, तीर्थातिरिक्त प्रदेशो मे मरने वाले सदन्तको को अग्नि से जलाया जाता था, वाराणसी–हरिद्वार आदि गाङ्गेय प्रदेशो मे मरने वालो को गङ्गाप्रवाह मे प्रवाहित किया जाता था, सन्यस्त आश्रमवासियो को विशेषत शून्य जगल मे डाल दिया जाता था, वहाँ वन्य हिंस्रक पशु पक्षी उसके शव को कवलित कर लेते थे। इन चारो मे आरम्भ की तीन पद्धतियाँ तो आज भी प्रचलित है।



२२–देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरश्च ये ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ।। —अथर्व० ११।७।२७।

इस मन्त्र मे पितरो की मनुष्यो से पृथक् गणना हुई है। फलत: पितृतत्त्व का प्राणत्त्व सिद्ध हो जाता है।



२३–पृथिवीं त्वा पृथिव्यामावेशयामि देवो नो धाता प्रतिरात्यायुः ।
परा परैता वसुविद् वो अरुचधा मृताः पितृषु सम्भवन्तु ।।
—अथर्व० १८।४।४८

* "पृथिवी से उत्पन्न होने के कारण पृथिवी रूप तुझ को पृथिवी मे मिला रहा हूँ। धाता देव हमे आयु प्रदान करे। हमसे (हमारे इस पृथिवी लोक से) दूरातिदूर जाने वाले हे पितरो ! धाता देवता तुम्हारा आश्रय दाता हो, एव मृतभाव को प्राप्त होने वाले तुम (परलोक मे जाकर वहा रहने वाले) पितरो मे मिल जाओ"।

* इसी मन्त्रभाग के आधार पर लोक मे—"मिट्टी मे मिट्टी मिल गई" आखिर है मिट्टी की मिट्टी" इत्यादि किवदन्तियाँ प्रचलित है।

श्मशान भूमि मे जब शव को गाड दिया जाता है, जला दिया जाता है, पानी मे बहा दिया जाता है, अथवा फैक दिया जाता है, तो अनन्तर इस मृत प्राणी के पुत्रादि उक्त मन्त्र बोलते है । आज उन्होने वास्तव मे इस पार्थिव शरीर को पृथिवी के समर्पित कर दिया है । इस कर्म्म द्वारा आज इनके आत्मा मे भी मृत्युभाव का समावेश हुआ है । इसके निराकरण के लिए (हम तो दीर्वजीवी बने रहे, इस कामना के लिए) यह आगे जाकर–**"धाता देव हमें आयु प्रदान करे, जीवित रक्खे'** यह कहते है । आगे जाकर मन्त्र कहता है कि इस प्राणी का परलोक मे (पितृलोक मे) गमन होता है, एव तत्रस्थ पितरो के साथ इसका एकीकरण होता है । यही प्रक्रिया **'सापिंड्य'** नाम से प्रसिद्ध है । इस प्रकार उक्त मन्त्र स्पष्ट शब्दो मे **सपिण्डीकरण** की प्रामाणिकता सिद्ध कर रहा है ।

—❀—

२४—"नमो वः पितर ऊर्जे, नमो वः पितरो रसाय" (अथर्व० १८।४।८)

नमो वः पितरो भामाय, नमो वः पितरो मन्यवे" (अथर्व० १८।४।८२)

यहाँ अर्क् **रस-भाम-मन्यु**-आदि तत्त्वो को **पितर** शब्द से सम्बोधित किया गया है, क्या इन्ही जीवित पितरो की श्रद्धापूर्वक सेवा करना श्राद्ध है ?

—❀—

२५—इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुधा म एषा ।
इदं धनं निदधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ।।
—अथर्व० ११।१।१।

"यह सुवर्ण मेरा अविनाशी प्रकाश है । क्षेत्र से उत्पन्न होने वाला यह पक्व अन्न (पिण्ड), एव **गौ** (उत्सृष्ट वृषभ) मेरी कामनाओ को पूर्ण करने वाली है । इस (दक्षिणारूप-हिरण्य-अन्न-गौ) **धन** को मै निधिरूप से (पिण्ड पितृयज्ञ के सम्पादक) ब्राह्मणो मे प्रतिष्ठित करता हूँ । इन सब साधनो के द्वारा मै पितरो के लिए वह मार्ग बनाता हूँ, जो कि सुखप्रद है ।"

यह उक्ति श्राद्धकर्ता यजमान की है । पक्व तण्डुलपिण्ड–दान पितरो के लिए है । साथ ही-दान मे दी जाने वाली गौ, एव हिरण्य (धातुद्रव्य-रुपया पैसा आदि यथाश्रद्धा) यद्यपि दिए जाते है ब्राह्मणो को, परन्तु इस दक्षिणादान से जो अतिशय उत्पन्न होता है, श्रद्धासूत्र के द्वारा उसका सम्वन्ध प्रेतात्मा के साथ होता है । श्राद्धकर्म्म मे उपयुक्त अन्न पिण्ड, एव ब्राह्मणोपयोगी भोजनान्न भेद से दो भागो मे विभक्त है । कृत कर्म्म मे मनुष्य-सुलभ अनृतभाव से होने वाले दोष के मार्जन के लिए ही कर्म्मान्त मे

ब्राह्मण भोजन का विधान है, जैसा कि श्राद्धपद्धति प्रकरण मे सोपपत्तिक स्पष्ट हो जायगा। ऋषि को उभयविध अन्न का सग्रह अभीष्ट था, अत "**पक्वं क्षेत्रात्**" कहा है। इस प्रकार **पिण्डदान ब्राह्मणभोजन-द्रव्यदान-गौदान** आदि से उत्पन्न होने वाला प्राणात्मक अतिशय श्रद्धासूत्र के द्वारा अवश्य प्रेतात्मा को तृप्त करता है। प्रेतात्मा जिस मार्ग से जाता है, यह अतिशय उसी सूक्ष्म आतिवाहिक मार्ग से जाता है। जैसा कि ब्राह्मणश्रुति कहती है—

"ता वा एताः—ऋत्विजामेव दक्षिणाः। अन्यं वा एतऽएतस्य (गच्छतः) आत्मानं संस्कुर्वन्ति, एतं यज्ञं-ऋङ्मयं, यजुर्मयं, साममयं, आहुतिमयम्। सोऽस्यामुष्मिँल्लोकऽआत्मा भवति, तद्ये प्राजीजनन्तेति—तस्माद् ऋत्विग्भ्य एव दक्षिणा दद्यात्, नानृत्विग्भ्यः। अथ प्रतिपरेत्य गार्हपत्यं-दक्षिणानि जुहोति। स दशाहोमीये वाससि हिरण्यं प्रबध्यावधाय जुहोति। देवलोके मेऽप्यसदिति वै यजते, यो यजते। सोऽस्यैष यज्ञो (यज्ञातिशयो) देवलोकमेवाभिप्रेति, तदनूची दक्षिणा यां ददाति सा—एति। दक्षिणामन्वारभ्य यजमानः।"

(शत० ४।३।४।५–६–७) इति।



२६—जीवं रुदन्ति विनयन्त्यध्वरं दीर्घामनुप्रसितं दीध्युर्नरः।
वामं पितृभ्यो य इदं समीरिरे मयः पतिभ्यो जनये परिष्वजे।

—अथर्व० १४।१।४६।

"जो मनुष्य पत्नियो के जीवन के लिए रोते है, अर्थात् जो स्त्रियो के अभाव को दु खमय समझते है, उनकी दुर्दशा पर आसू बहाते है, यज्ञ मे उनको नियुक्त करते है, जो उनको कभी पीडा नही पहुँचाते है, जो प्रेमपूर्वक उनका आलिङ्गन करते है, एव जो पितरो के लिए श्रेष्ठ सन्तान उत्पन्न करते है, ऐसे पतियो के लिए पत्नियाँ सदा सुखद रहती है"।

इस मन्त्र ने प्रजोत्पत्ति को **पितृऋण**-परिशोध का कारण बतलाया है। दूसरे शब्दो मे पितर-प्राण की सन्तुष्टि के लिए सतति उत्पन्न करना मनुष्य का कर्त्तव्य बतलाया गया है, जैसा कि आगे की "**ऋणमोचनोपायोपनिषत्**" मे विस्तार से बतलाया जाने वाला है।



अधिक विस्तार की आवश्यकता नही है। उदाहरण के लिए उक्त मन्त्र पर्याप्त है। विशेष जिज्ञासुओ को **ऋक्संहिता** के १।४२।५,—१।७१।२,—१।१०६।३,—१।१०९।३,—१।१०९।७,—

१।११६।४,—२।५।१,—३।५५।२,—४।१।१३,—४।२।१६,—४।४२।८,—५।४७।१,—६।२१।८,—६।२२।२,—६।४६।१२,—६।४६।१०,—इत्यादि स्थलो के पढे हुए पितर शब्द की, **यजु सहिता** के २।७,—२।३१,—२।३३,—२।३४,—३।५५,—५।११,—६।१,—७।४६,—८।५८,—१२।४५,—१४।२६,—१९।११,—१९।३७,—१९।४५,—१९।४७,—१९।५०,—१९।५३,—१९।५४,—१९।६६,—१९।७०,—२९।४६,—२९।४७,—३८।९,—इत्यादि स्थलो मे उपात्त पितर शब्दो की, एव **अथर्व सहिता** के १।३०।२,—१२।४,—४।१५।५,—५।१८।१३,—५।२४।१४,—५।२४।१५,—५।३०।११,—५।३०।१२,—६।४६।१,—६।७१।२,—६।११६।२,—६।१२०।३—७।४१।२,—१०।१०।२६,—११।७।२७,—१२।१।३२,—१४।१।४६,—१५।७।२,—१८।१।४५,—१८।१।४६,—इत्यादि स्थलो के पितर शब्दो की मीमासा करनी चाहिए। इन सब प्रकरणो का बिना किसी मताभिनिवेश के शुद्ध हृदय से यदि आप विचार करेगे, तो आपको यह मान लेने मे कोई आपत्ति न होगी कि, पितर एक तत्त्वविशेष है, उसकी स्थानभेद से अनेक अवस्थाएँ हो जाती है। प्रेतपितर के निमित्त यथाविधि दिया हुआ स्वधा अन्न अवश्य ही श्रद्धासूत्र के द्वारा अतिशयरूप से उसकी तृप्ति का कारण बन जाता है। प्रयत्न सहस्रो से भी आप उपर्युक्त स्थलो मे आये हुए स्वधा–अन्न–दक्षिणा–जलतर्पण आदि कर्म्मो के फलभोक्ता पितर शब्दो को जीवित पितरपरक नही लगा सकते। हाँ, अभिनिवेश का उत्तर न अद्यावधि कोई दे सका, एव न भविष्य मे ही ऐसे महानुभावो के मनोरञ्जन की कोई आशा है।

सहितोक्त पितर शब्द के कुछ उदाहरण पाठको के सम्मुख उपस्थित किए गए। अब देखना यह है कि, वेद के ब्राह्मण भाग ने इस सम्बन्ध मे अपने क्या विचार प्रकट किए है। निम्नलिखित ब्राह्मण वचनो पर आप भी विचार कीजिए, और फिर निष्पक्ष दृष्टि से पितृस्वरूप के सम्बन्ध मे अपना निर्णय प्रकट कीजिए।

ब्राह्मणभागोक्तप्रामाण्यवाद—

१—"सोऽसुरान् सृष्ट्वा पितेवामन्यत, तदनु पितृ्नसृजत, तत्पितृणां पितृत्त्वम्"

— तै० ब्रा० २।३।८।२

"उसने असुरो को उत्पन्न कर (अपने आपको) पिता के सदृश समझा, असुरो को लक्ष्य मे रख उसने पितरो को उत्पन्न किया, यही पितरो का पितृत्त्व है।" ऋषिप्राणमूर्ति स्वयम्भू से ही आपोमय परमेष्ठी का विकास होता है। परमेष्ठी के अप्तत्त्व भृगु एव अङ्गिरा भेद से दो भागो मे विभक्त है। इनमे भृगु की अप्–वायु–सोम, ये तीन अवस्था है। इनमे अप्तत्त्व के आधार पर स्वयम्भू असुरसृष्टि करते है,

सोमतत्त्व के आधार पर **पितरसृष्टि** का विकास होता है। मध्यस्थ वायु **गन्धर्वसृष्टि** की मूल प्रतिष्ठा है। यही दोनो का विभाजक है। सोम अप् की ही अवस्था विशेष है, इसी अभिप्राय से **"तदनुपितृनसृजत"** यह कहा है।

—**—

२—"अग्निमुखा एव तत् पितृलोकाज्जीवलोकमभ्यायन्ति" —शत० १३।८।४।६

"**(वे पितर) अग्निमुख बन कर ही पितृलोक से जीवलोक की ओर आते है।**" "**अग्निर्वै पथोऽतिवोढा, स एनानतिवहति**" (शत० ३।८।४।६) के अनुसार अग्नि ही सौम्य प्राणात्मक पितरो का वहन करने वाला है। **पञ्चाग्निविद्या** के अनुसार पितर प्राणमय श्रद्धातत्त्व सर्वप्रथम दिव्य आदित्याग्नि मे परिणत होता हुआ आगे जा कर क्रमशः पर्जन्य-पार्थिव-पुरुष—शोणित इन अग्नियो के सम्बन्ध से सोम—वृष्टि-अन्न-शुक्र-रूप मे परिणत होता हुआ अध्यात्मसस्था मे प्रतिष्ठित होता है—(देखिए छान्दोग्य उ० ५ अ० ४,५,६,७,८,६ खण्ड) दूसरे शब्दो मे एक ही अग्नि **आदित्य—पर्जन्य—पार्थिव—पुरुष—योषित्**, इन पाँच भागो मे विभक्त होकर **श्रद्धा—सोम—वृष्टि—अन्न—रेत**, इस प्रकार पञ्चधा विभक्त सोमतत्त्व का अतिवहन करता है। श्रद्धामय चान्द्रलोक मे प्रतिष्ठित इन्ही अग्नियो के आधार पर अग्नि को मुख (अग्रणी) बना कर ही पितरप्राण स्वलोक से जीवलोक स्थानीय इस धरातल पर प्राणी शरीर मे प्रतिष्ठित होता है, यही तात्पर्य है।

—❀—

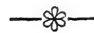
३—"दक्षिणसंस्थो वै पितृयज्ञः" —कौ० ब्रा० ५।७

"**पितर दक्षिण दिशा मे प्रतिष्ठित रहने के कारण "दक्षिणसंस्थ" कहलाते है।**" सौम्यप्राण ही पितर है, यह निर्विवाद है। यह सौम्य ऋत प्राण उत्तर दिशा मे उक्थ रूप से रहता हुआ अर्क रूप से उसी प्रकार निरन्तर दक्षिण दिशा की ओर जाया करता है, जैसे कि दक्षिण दिशा मे उक्थरूप से प्रतिष्ठित ऋताग्नि अर्करूप से निरन्तर उत्तर दिशा की ओर आया करता है। उत्तर से आने वाले सौम्य प्राणरूप पितर की अन्तिम विश्राम भूमि दक्षिणा दिक् ही है। यदि कोई व्यक्ति उत्तर दिशा की ओर मस्तक करके सोता है, तो ब्रह्मरन्ध्र से प्रविष्ट होने वाले आयु स्वरूप—समर्पक सौर इन्द्र प्राण पर इस पितर प्राण का आघात होता है। जाता हुआ पितर इसके जीवनीय पितरो को भी निकाल ले जाता है। इसी आधार पर "**नोदीचीनशिराः शयीत**" इत्यादि रूप से उत्तर दिशा की ओर मस्तक कर के सोने का निषेध है।

—*—

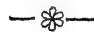
४—"अन्तर्हितो हि पितृलोका मनुष्यलोकात्"—तै० ब्रा० १।६।८।६

"पितृलोक मनुष्यलोक से व्यवहित है।" चन्द्रमा स्वर्ग एव नरक का विभाजक माना गया है। चन्द्रमा से उत्तर का आकाश स्वर्ग प्रदेश है, दक्षिणाकाश नरक प्रदेश है। ये दोनो ही भाग दो–दो भागो मे विभक्त है। उत्तर प्रान्त मे ध्रुव प्रदेश यावत् प्रदेश **देवस्वर्ग** है, आगे **ब्रह्मलोक** है। दक्षिणाकाश मे शनैश्चरपर्य्यन्त **पितृस्वर्ग** है, शनैश्चर के उस पार का अन्धकारमय प्रदेश **नरकलोक** है, जैसा कि **आत्मगति-विज्ञानोपनिषत्"** मे विस्तार से बतलाया जाने वाला है। पृथिवीलोक मनुष्यलोक है। त्रिविध पितृलोको मे से पितरप्राण-प्रधान **'प्रद्यौ'** नाम का पितृलोक इस मनुष्यलोक से वास्तव मे बहुत व्यवहित (दूरी पर) है।



५—"तिर इव वै पितरो मनुष्येभ्यः" —शत० २।४।२।२१

"पितर मनुष्यो की दृष्टि से छिपे हुए से है।" पितर प्राणतत्त्व है। प्राणतत्त्व का अनुमान हो सकता है, इसे चर्म्मचक्षु से नही देखा जा सकता। हम यह जानते है कि, शुक्र मे प्रतिष्ठित पितर प्राण ही हमारे भौतिक शरीर की प्रतिष्ठा है, यही शक्तिरूप से (ऊर्क् रूप से) अनुभव मे आता है, एव यही प्रजातन्तु-वितान का प्रवर्त्तक है। इन सब कारणो से तो हम इसे परोक्ष नही मान सकते, साथ ही मे प्राणमय होने से चर्म्मचक्षु से इसका प्रत्यक्ष करने मे असमर्थ होते हुए हम इसे प्रत्यक्ष भी नही कह सकते। इसी प्रत्यक्षाप्रत्यक्षभाव को लक्ष्य मे रखकर श्रुति ने केवल "**तिर. पितरः**" न कह कर "**तिर इव वै पितरः**" यह कहा है।



६—"रात्रिः पितरः" —शत० २।१।३।१

"**रात्रि पितर है।**" पिता शब्द का अर्थ है—पालक, रक्षक, भरण-पोषण करने वाला। साधारण मनुष्यो ने **सूर्य्य** को पिता समझ रक्खा है। परन्तु पितृस्थानीया वास्तव मे **रात्रि** है। सूर्य्य अह काल मे अपनी रश्मियो से हमारे प्राण खैचा करता है—(देखिए प्रश्नोपनिषत् २।७)। सूर्य्य के रश्म्याकर्षण से, एव अन्यान्य कर्म्मों मे रत रहने से दिन मे हमारे शरीर का जो प्राण (शक्ति) खर्च होता है, वह रात्रि मे हमे मिल जाता है। रात्रि क्या है, **दात्री** है—(रा दाने)। रात्रि हमारी विश्राम-भूमि है। पिता सूर्य्य ही है, माता रात्रि ही है। सन्तान का पोषण माता के क्रोड मे ही होता है, पिता तो शासक है। पिता का पालकधर्म्म इस मातृस्वरूपिणी रात्रि से पूर्ण होता है। कारण इसका वही सौम्य पितरप्राण है। दिन मे सूर्य्य की कृपा से पोषक सोम अग्निगर्भ मे रहता है, अतएव दिन को **आग्नेय** कहा जाता है। रात्रि मे निशानाथ चन्द्रमा के अनुग्रह से सोम का सा[illegible] रहता है, अत रात्रि को **सौम्या** माना गया है। इसी सौम्य पितरप्राण के साथ अभिन्न भावापन्ना रात्रि "**पितर**" शब्द से व्यवहृत की गई है।

७—"तत्तमसः पितृलोकादादित्यं ज्योतिरभ्यायन्ति" —शत० १३।८।४।७

"(ऋत्विक् लोग "उद्वय तमस०" इत्यादि मन्त्र के द्वारा) उसे (यज्ञात्मा को) तमःप्रधान पितृलोक से आदित्यरूप ज्योतिर्लोक (देवलोक) की ओर लौटाते है।" दक्षिणायन भाग **पितृयाण** है, उत्तरायण भाग **देवयान** है। देवयान मे आदित्यज्योति की प्रधानता है, पितृयाण मे रात्रिसोम का प्रभुत्व है। अतएव पितृलोक को तमो रूप, एव आदित्य को ज्योति शब्द से व्यवहृत किया गया है।

—❀—

८—"अवान्तरदिशो वै पितरः" —शत०१।८।१।४०

"अवान्तर दिशाएँ पितर है, किंवा अवान्तर दिशाओ मे पितर रहते है"। नियतभाव को **सत्य** कहा जाता है, अनियतभाव को **ऋत** कहा जाता है। **पूर्व—पश्चिम—उत्तर—दक्षिण—ऊर्ध्व—अध.**—यह ६ दिशाये सर्वथा नियत है, इन्ही ६ओ के आधार पर आगमोक्त **पूर्वाम्नाय—पश्चिमाम्नाय—उत्तराम्नाय—(पञ्चमकारात्मक वाममार्ग)—दक्षिणाम्नाय—(पञ्चदकारात्मक स्मार्त्तमार्ग)—ऊर्ध्वाम्नाय—योगाम्नाय—अधराम्नाय—(अघोराम्नाय)** यह ६ आम्नाय (मार्ग) प्रतिष्ठित है। नियतभाव के कारण हम इन दिशाओ को अवश्य ही "सत्य" कहने के लिए तय्यार है। उत्तर पूर्व के मध्य मे **ईशानकोण**, पूर्व दक्षिण के मध्य मे **आग्नेयकोण**, दक्षिण पश्चिम के मध्य मे **नैर्ऋतकोण**, एव पश्चिमोत्तर के मध्य मे **वायव्यकोण** है। यही चार अवान्तर दिशाएँ है। इनका कोई अपना नियत स्वरूप नही है, अपितु पूर्वादि चार प्रधान नियत दिशाओ के आधार पर इन अनियत भावो का स्वरूप सम्पन्न होता है। दूसरे शब्दो मे चार प्रधान (भुजा-स्थानीय) दिशाओ के अतिरिक्त सम्पूर्ण प्रान्त भाग अवान्तर दिशाएँ है। जिसे लोकभाषा मे **बचाखुचा** (शेष भाग) कहते है, ठीक उसी भाव के लिए **'अवान्तर'** शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्रधान चार दिशा है, गौणभाग अवान्तर है। यही इसका ऋतभाव है। अग्नि सत्य है, सोम ऋत है। ऋत सौम्य तत्त्व ही पितर है। इसी विज्ञान के आधार पर श्रुति ने अवान्तर दिशाओ को पितर कहा है।

—❀—

९—"अध इव हि पितृलोकः" —शत० १४।६।१।१०

"पितृलोक नीचा सा है"। यज्ञविद्या के सम्बन्ध मे आत्मवित् **विदेह जनक** के **"कत्ययमद्याध्वर्यु रस्मिन्यज्ञे आहुतीर्होष्यति ? इति"** (याज्ञवल्क्य ! यह अध्वर्यु इस यज्ञ मे कितनी आहुति डालेगा ?) यह प्रश्न करने पर भगवान् **याज्ञवल्क्य** उत्तर देते है—**"तिस्र" इति"** (तीन आहुतियाँ)। आगे जाकर—"कतमास्तास्तिस्र" इति ?" (वे तीन आहुतियाँ कौनसी है ?) यह प्रश्न करने पर याज्ञवल्क्य उत्तर देते है—राजन् ! जो आहुतियाँ अग्नि मे हुत होकर ऊपर की ओर प्रज्ज्वलित होती है, जो हुत

होकर न नीचे जाती, न ऊपर जाती, जो आहुतियाँ नीचे शयन करती है, (ये ही तीन आहुतियाँ है)। **"कि ताभिर्जयति" इति ?"** (इन तीनो से क्या-क्या लाभ होता है ?) इस प्रश्न के समाधान मे मुनि कहते है—**पहिली से देवलोक, दूसरी से मनुष्यलोक, तीसरी से पितृलोक प्राप्त होता है"**। इन तीनो मे देवलोक एव मनुष्यलोक का तो सूर्य्य एव पृथिवी रूप से हमे प्रत्यक्ष हो रहा है। परन्तु तीसरा पितृलोक अविदित है। इसी तीसरे लोक का परिचय कराने के अभिप्राय से—**अध इवही पितृलोक** " यह कहा गया है। **पानी—सोम—इन्द्र** ये तीनो तत्त्व क्रमश **असुर—पितर—देवता** इन तीनो के अधिष्ठाता है। इन्द्रात्मक सौरलोक देवलोक है। यह सर्वथा प्रकाशित है। अबात्मक पाताललोक असुरलोक है—**यूयं प्रयात पातालम्"**। यह सर्वथा अप्रकाशित है। सोमात्मक सान्ध्यलोक **पितरलोक** है। यहाँ न सर्वथा प्रकाश है, न एकान्तत अन्धकार हे। बिलकुल उजाला देवस्थान है, बिलकुल अन्धेरा असुरस्थान है, पर्वत कन्दराओ जैसा प्रकाशाप्रकाश–मिश्रितस्थान पितरस्थान है। दूसरे शब्दो मे ऊर्ध्वस्थान देव प्रधान है, अधःस्थान असुरप्रधान है। उभयात्मक स्थान पितरप्रधान है। इसी मिश्रणावस्था को सूचित करने के लिए श्रुति ने "**अध** " न कह कर "**अध इव**" कहा है।

—**—

१०—"अन्तरिक्षं तृतीयं पितॄन यज्ञोऽगात्" —ऐ० ब्रा० ७।५।

"**यह यज्ञ तीसरे अन्तरिक्ष मे (रहने वाले) पितरो की ओर गया**। यहाँ अन्तरिक्ष शब्द द्युलोक का वाचक है। भूपिण्ड-सूर्य्यपिण्ड के मध्य का अन्तरिक्ष पहिला द्युलोक है। सवत्सरात्मक सूर्य्य दूसरा द्युलोक है। एव सूर्य्य से ऊपर का परमेष्ठी तीसरा द्युलोक है। "**तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत्**" (शत० ४।१) के अनुसार इसी पारमेष्ठ्य लोक मे सोम तत्त्व प्रतिष्ठित है। द्युलोक मे रहने वाला सोमात्मक प्राण ही पितर है।

—✿—

११—"अर्द्धमासा वै पितराऽग्निष्वात्ताः" — तै० ब्रा० १।६।८।३।

'पक्षरूप अर्द्धमास अग्निष्वात्ता नामक पितर है'। शुक्लपक्षो मे सोमतत्त्व अग्निगर्भ मे रहता है। दूसरे शब्दो मे शुक्लपक्षगत सौम्य पितर अग्नि द्वारा खाए हुए रहते है, अतएव इन पाक्षिक पितरो को "**अग्निष्वात्ता**" कहा जाता है।

—✿—

१२–"अथ ये दत्तेन पक्वेन लोकं जयन्ति ते पितरो बर्हिषदः" —शत० २।६।१।७।

"जो दिए हुए पक्व अन्न से लोक जीतते है, वे पितर बर्हिषत् है" । एक मास मे चान्द्र-सोम का एक पिण्ड परिपक्व हो जाता है । अतएव मासात्मक पिण्डभागस्थ पितरो को बर्हिषत् कहा जाता है । केवल अग्नि से भी पिण्ड नही बनता, केवल सोम से भी पिण्ड नही बनता । शुक्लपक्ष अग्निप्रधान है, कृष्णपक्ष सोमप्रधान है । दोनो का समन्वित रूप ही मासात्मक पिण्ड है । पदार्थ विद्या के अनुसार पदार्थ **उष्ण—शीत—अनुष्णाशीत** भेद से तीन भागो मे विभक्त है । अग्नि उष्ण पदार्थ है, सोम शीत पदार्थ है, दोनो का समन्वित रूप **दर्भ** है । यही **बर्हि** है । बर्हि शब्द सकेत भाषा के अनुसार अनुष्णाशीतभाव का वाचक है । ऊष्माप्रधान सूर्य्य अग्नि है, शीतप्रधान शीताशुचन्द्रमा सोम है, उभयप्रधान भूपिण्ड **बर्हि** है— **"अय वै लोको बर्हिः"** (शत० १।८।२।११)—**"ओषधयो वै बर्हि"** (ऐ० ब्रा० ५।२८) । भूपिण्ड वास्तव मे न गरम है, न ठडा । इनमे से आग्नेय पदार्थो के आरम्भक वे ही पितर **अग्निष्वात्ता** नाम से, सौम्य पदार्थो मे रहने वाले **'सोमसत्'** नाम से, एव उभयात्मक पदार्थो मे रहने वाले पितर उक्त परिभाषानुसार **बर्हिषत्** नाम से प्रसिद्ध है । मासपिण्ड उभयात्मक है, अत मासात्मक पितरो को हम अवश्य ही बर्हिषत् कह सकते है । पिण्ड ही **"पक्व"** पदार्थ कहलाता है । पूर्वश्रुति ने पक्व शब्द से भी इसी पिण्डभाव की ओर सकेत किया है । अपि च **"मासा वै पितरो बर्हिषद"** (तै०ब्रा० १।६।८।३) इत्यादि रूप से स्पष्ट ही श्रुति ने अग्नि सोम समन्वित, अतएव पिण्डात्मक मासो को बर्हिषत् शब्द से व्यवहृत किया है ।

—**—

१३—"ये वा अयज्वानो गृहमेधिनः, ते पितरोऽग्निष्वात्ताः" —तै० १।६।६ ।

"घर मे रहने वाले (अतएव) **जो पितर अयज्वान हैं, वे पितर अग्निष्वात्ता है"** । भूपिण्ड से सम्बन्ध रखने वाले अग्निगर्भ मे प्रतिष्ठित सौम्य पितर अग्निष्वात्ता है । **"यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिता"** (यजु‥ सहिता‥) के अनुसार भूपिण्ड अग्निमय है । भूपिण्ड स्वरूप सम्पादक अन्नादाग्नि भूरूप गृह (घर) का अधिष्ठाता होने से **"गृहपति" "गृहमेधी"** (मेधृ सगमने) इत्यादि नामो से प्रसिद्ध है । यही अन्नादाग्नि अन्नरूप सोम को खाने की शक्ति रखता है, जैसा कि पूर्व की **प्राणात्मोपनिषत्** मे कहा जा चुका है । दिव्य पितर प्राण का–(जो कि अहोरात्र–मास–अयन–सवत्सर भेद से अनेक भागो मे विभक्त है) आध्यात्मिक पितर प्राण के साथ योग कराना ही **पितृयाग, किंवा पिण्डपितृयज्ञ** है । यज्ञ का प्रधान सम्बन्ध दिव्य पितरो के साथ ही है ' अतएव मासात्मक बर्हिषत् पितरो को, तया साम्वत्सरिक पितरो को ही—**"संवत्सरो वै सौमः पितृमान्" "सवत्सरमेव तद्यजति" "पितृन् बर्हिषदो यजति" "येवै यज्वानस्ते पितरो बर्हिषद."** (तै० ब्रा० १।६।६।५–६) इत्यादि रूप से **"यज्वान"** कहा जाता है । पार्थिव पितर तो हम पार्थिव प्राणियो मे अपने आप ही सङ्गत रहते है । शरीररूप गृह के यही पति है । साथ ही मे ये अग्नि द्वारा भुक्त होने से **"अग्निष्वात्ता"** नाम से भी प्रसिद्ध है । अतएव-श्रुति ने इनको **"अयज्वान"** कहा है । जो बुद्धिमान् अनग्निष्वात्तादि शब्दो से जीवित पितादि का ग्रहण करते है, उनके मतानुसार तो क्रोधी इन अग्निष्वात्ता पितरो का कोई सत्कार नही करना चाहिए ।

१४—"यानग्निरेव दहन्त्स्वदयति ते पितरोऽग्निष्वात्ताः"—शत० २।६।१।७।

"जिन पितरो को अग्नि ही बड़े स्वाद से खाता है, वे पितर अग्निष्वात्ता है" । शरीरस्थ पितर-प्राण शरीर आमादयात् अग्नि द्वारा भुक्त है, दाहकाल मे क्रव्यादाग्नि द्वारा प्रेतात्म-शरीर के पितर भुक्त है । दोनो अवस्थाओ से युक्त गृहमेधी अयज्वा पितर हो अग्निष्वात्ता है ।

—**—

१५—"तन्मध्येऽग्निं समादधाति । पुरस्ताद्वै देवाः प्रत्यञ्चो मनुष्यानभ्युपावृत्ताः । तस्मात्–तेभ्यः प्राङ् तिष्ठन् जुहोति, सर्वतः पितरः । अवान्तर दिशो वै पितरः, सर्वत इवहीमा अवान्तरदिशः" —(शत० २।६।१।११)

"मध्य मे अग्नि को प्रतिष्ठित करता है । पूर्व से पश्चिम की ओर देवता लोग मनुष्यो के समीप आए है । इससिए इनके लिए पूर्वाभिमुख बैठ कर आहुति दी जाती है, एवं पितरो के लिए चारो ओर से आहुति दी जाती है । अवान्तर दिशाएँ ही पितर है, चारो ओर ही अवान्तर दिशाएँ हैं" । आप कहते है, जीवित पितरो को भोजन कराओ, श्रुति कहती हे पितरो के लिए अग्निकुण्ड मे चारो ओर से आहुति दो । कहिए आपको प्रमाण समझे, अथवा श्रुति कथन का समादर करे ?

—**—

१६—"तृतीये वा इतो लोके पितरः" —(तै० ब्रा० १।३०।१०।५।)

"यहाँ से तीसरे लोक में पितर है ।" तीसरा लोक परमेष्ठी है यही सोमलोक है, सौम्यप्राण ही पितर है, जैसा कि पूर्व मे कहा जा चुका है ।

—**—

१७—"मासि मासि पितृभ्यः क्रियते"—(तै० ब्रा० १।४।६।१।)

"महिने-महिने मे पितरो के लिए (श्राद्धकर्म्म) किया जाता है ।" इस वचन का स्पष्टीकरण आगे देखिए ।

—**—

१८—"अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपसीदन् । तानब्रवीत्-मासि-मासिवोऽशनम्, स्वधावः, मनोजवो वः, चन्द्रमा वो ज्योतिः" —(शत० २।१।३।३१।)

"इसके अनन्तर प्राचीनावीती बन कर अपने वाम जानू को गिरा कर इसकी ओर बैठे । इन पितरो को उसने (प्रजापति ने) कहा महिने-महिने मे तुम्हारा भोजन होगा, स्वधा तुम्हारा आत्म-स्वरूप होगी मनोवेग तुम्हारा व्यापार होगा, चन्द्रमा तुम्हारी ज्योति होगी ।" इस वचन का ब्राह्मण प्रतिपादित **दायविभागाख्यान** से सम्बन्ध है । इस आख्यान की वैज्ञानिक उपपत्ति आगे के प्रकरणो मे स्पष्ट होगी । यहाँ विषय सङ्गति के लिए केवल शब्दार्थ जान लेना ही पर्य्याप्त होगा । चन्द्रमा पितर प्राण की **आवास भूमि** कहलाती है । चन्द्रमा का अधोभाग सदा पृथिवी की ओर अनुगत रहता है, ऊर्ध्वभाग सदा परमेष्ठी के अनुगत रहता है । परमेष्ठी पितर की **प्रभव भूमि** है । इसके सम्बन्ध से चन्द्रमा के ऊर्ध्वभाग मे ही पितर प्राण की प्रधानता रहती है ।—**"विधूर्ध्वभागे पितरोवसन्ति ।"** पितर-प्राण-मूर्ति यह चन्द्रमा भूपिण्ड के चारो ओर परिक्रमा लगाता है । इसी परिक्रमा से शुक्ल-कृष्ण पक्षो का उदय होता है । शुक्ल-पक्ष मे सोम द्वारा तन्मय पितरो का सौर देवताओ के साथ भोग रहता है, अतएव इस पक्ष मे पितर प्राण का हमारे साथ सम्बन्ध नही होने पाता । कृष्ण-पक्ष मे चान्द्रप्राण भूपिण्ड पर आता है । इसमे भी अमावस्या को (जबकि सूर्य्य-चन्द्रमा का सगम होता है) पितर अति मात्रा मे यहाँ आता है—**"इहैव लोके अमा (सह) वसति तस्मादमावास्या नाम"** । यही पितरो का मध्याह्न है, पूर्णिमा इन की अर्द्धरात्रि है । फलत पितृश्राद्ध अमावस्या मे ही विहित है । इस प्रकार श्राद्धान्न का इनके साथ मास-मास मे ही सम्बन्ध होता है । क्या जीवित पितर महिने मे एक बार खाकर जीवन धारण कर सकते है ? पितर प्राण सोम प्रधान होने से ससग है । यह अन्तर्य्याम सम्बन्ध से ही शरीर मे प्रतिष्ठित रहता है, अतएव इन्हे "स्वधा" कहा गया है । चन्द्रमा मन का अधिष्ठाता है, अतएव मनोजव इनका व्यापार माना गया है । चन्द्रमा ही इनकी वास्तव मे ज्योति है ।

—**—

१९—"स यत्रोदङ्ावर्त्तते–देवेषु तर्हि भवति, देवांस्तर्ह्यभिगोपायति ।
अथ यत्र दक्षिणावर्त्तते–पितृषु तर्हि भवति, पितॄंस्तर्ह्यभिगोपायति ।।
—(शत० २।१।३।३)

"जब **(दृश्यमण्डल के अनुसार) परिक्रमा लगाते-लगाते सूर्य्य उत्तरायणानुगामी बनता है, उस काल में वह देवमण्डल मे प्रतिष्ठित होता है, उस काल मे यह देवताओ की रक्षा करता है । अनन्तर जब यह दक्षिणायन की ओर लौटता है तो उस समय यह पितरो मे प्रतिष्ठित रहता है, एवं उस दक्षिणायन काल मे पितरो की रक्षा करता है"** यदि पितर सौम्य है, तो देवता आग्नेय हैं । दक्षिणायन काल मे पितर-प्राण का प्रभुत्व रहता है, एव उत्तरायणकाल मे देव-प्राण का साम्राज्य रहता है । उक्त श्रुति का **स्पष्टीकरण** पितृनिरूपण मे होने वाला है ।

—✿—

२०—"पितृलोकः सोमः"—(कौ० ब्रा० १६।५)

"पितृलोक सोम (मय) है" । परमेष्ठी एव चन्द्रमा यह दोनो ही पितृलोक है । इत दोनो मे से परमेष्ठी मे **ब्रह्मणस्पति** नाम का पवित्र सोम प्रतिष्ठित है, यही **श्रोत्रेन्द्रिय** का अधिष्ठाता है । चन्द्रमा मे **भास्वरसोम** प्रतिष्ठित है, यही **मन** का अधिष्ठाता है ।

—❀—

२१—"सम्वत्सरो वै सोमः पितृमान्"—तै० ब्रा० (१।६।८।२)

सम्वत्सरात्मक सोम पितरप्राणयुक्त होने से पितृमान् है" । पूर्व मे हमने बतलाया है कि, सोम ऋततत्त्व है, अग्नि सत्यतत्त्व है । ऋत पूर्वावस्था है, सत्य उत्तरावस्था है । ऋत आधार है, सत्य आधेय है । **"ऋते भूमिरियश्रिता"** । यद्यपि आवे सम्वत्सर मे सोम की, एव आवे सम्वत्सर मे अग्नि की प्रधानता है, परन्तु आधारापेक्षया सम्पूर्ण सम्वत्सर मे सोम की व्याप्ति मान ली जाती है । इसी आधार पर सोम को सम्वत्सरमूर्ति मानते हुए इसे पितृमान बतलाया है ।

—❀—

२२—"षड्वा ऋतवः पितरः—(शत० ६।४।३।८)

"वसन्त-ग्रीष्म-वर्षादि ६ ऋतुएँ पितर है" । **"अग्नीषोमात्मकं जगत्"** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण विश्व अग्नि-सोममय है । यह अग्निसोम ६ ऋतुओ मे विभक्त है । **बसन्त-ग्रीष्म-वर्षा**—ये तीन ऋतुएँ अग्निप्रधान है, **शरत्-हेमन्त-शिशिर** ये तीन सोम प्रधान है । षड्ऋतुसमष्टि ही विश्व की उत्पादिका होने से **"पितर"** स्थानीय है । यहाँ पितर शब्द उत्पादक भाव से सम्बन्ध रखता है, यही तात्पर्य है । इस विषय का विशद विवेचन **"ऋतुपितृविज्ञानोपनिषत्"** मे होने वाला है ।

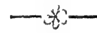
—❀—

२३—"ओषधिलोको वै पितरः"—(शत० १३।८।१।२०)

"ओषधिलोक पितर है" । **"ओषध्य फलपाकान्ता "** के अनुसार जिस मूल जीव के मूल का फल आने पर नाश हो जाय, वही ओषधि है । जौ-गेहूँ-चावल-उर्द-मूग आदि अन्नो की यही दशा है । इन सबके पौधे एक बार फल देकर नष्ट हो जाते है । इन ओषधियो मे सोम की प्रधानता रहती है । कारण इनका निर्म्माण चान्द्रसोम से होता है । अतएव चन्द्रमा को **"ओषधीनां पति "** कहा जाता है । ओषधियो मे अग्नि गर्भ मे रहता है, सोम से इनका शरीर बनता है, अतएव **"ओषं (ऊष्मभाव-अग्नि) धत्ते"** इस निर्वचन से इन्हे ओषधी कहा जाता है । 'ओषधी' ही परोक्ष भाषा मे **'औषधि'** है । सौम्यप्राण ही पितर है । भूपिण्ड मे पितरप्राण ओषधियो मे प्रतिष्ठित रहता है, अतएव श्रुति ने ओषधि को पितृलोक माना है ।

२४—**"यद तवः पितरः प्रजापति पितरं पितृयज्ञेनायजन्त तत् पितृयज्ञस्यपितृत्वम्"** ।—(तै० ब्रा० १।४।१०।८)

"जो कि पितररूप ऋतुओ ने पिता प्रजापति को पितृयज्ञ से युक्त किया, वही पितृयज्ञ का पितृत्व (पितरप्राणमयत्त्व) है" । व्यष्टिरूप से वही सवत्सर प्रजापति **"पितर"** है। समष्टिरूप से वही **"पितर"** है। समष्टिरूप सवत्सर एक है, व्यष्टिरूप सवत्सर ६ है, यह ६ ऋतुएँ है। संवत्सररूप पिता प्रजापति पार्थिव प्रजा निर्म्माण मे विस्रस्त (खर्च) होता रहता है। यह कमी इन्ही ऋतुओ द्वारा पूरी होती रहती है। पार्थिव ओषधियो के रस उन्ही ऋतुओ से सम्पन्न होते है, निधन काल मे इन्ही ऋतुओ के द्वारा ओषधिरस सवत्सर मे सञ्चित होते रहते है। सञ्चित होने वाला सौम्यरस पितरप्राणमय ही तो है। पितर-सवत्सर यज्ञ ही पितृयज्ञ है। इस पितृयज्ञात्मक सवत्सर से यदि पितरप्राणमयरस प्रजा निर्म्माण मे खर्च ही होता रहता तो एक दिन इस पितृयज्ञ का पितृत्व (पितरप्राणमयत्व) उच्छिन्न हो जाता। परन्तु ऋतुओ द्वारा स्रस्त पितृभाग का सधान होता रहता है, कमी पूरी होती रहती है, यही तो इस पितृयज्ञ के पितृत्व-भाव की प्रतिष्ठा का मुख्य कारण है।



२५—**"यमो वैवस्वतो राजेत्याह तस्य पितरो विशाः। त इमऽआसतऽइति स्थविराउपसमेता भवन्ति, तानुपदिशति, यजूंषि वेद सोऽयमिति"** ।
(शत० १३।४।३।६)

"यम देवता वैवस्वत राजा है" यह कहा है, **पितर इस यम की प्रजा है। वह यह बैठे हुए है** जो कि स्थविर (पुराने) पितर (यज्ञ मे) सगत है। इन्ही को (लक्ष्य मे रखकर अध्वर्यु ने) **"यमो वै" इत्यादि कहा है। यजुर्वेद इस स्थविर पितर-तत्त्व को जानता है कि वह यह है"** । जिस प्रकार मनुवैवस्वत राजा है, **मनुष्य** इसकी प्रजा है, ऋग्वेद इनका वेद (परिचायक) मनुष्यो का ज्ञाता है। १२ आदित्यो मे से **वरुण** नाम का **आदित्य** विशेष राजा है, **गन्धर्व** इसकी प्रजा है, अथर्ववेद इनका ज्ञाता है, विष्णुदेवता सम्बन्धी **सोम** राजा है, **अप्सराएँ** इसकी प्रजा है, **आङ्गिरसवेद** इनका ज्ञाता है, **अर्बुद** नाम से प्रसिद्ध काद्रवेय (सुपर्णगायत्री) राजा है, **सर्प** इसकी प्रजा है, सर्पविद्या इनका वेद है। **कुबेरवैश्रवण** राजा है, **राक्षस** इसकी प्रजा है, **"देवयजनविद्या"** (भूतविद्या) इनका वेद है। **धान्वअसित** इनका राजा है, **असुर** इनकी प्रजा है, **"माया"** इनका वेद है। **मत्स्य** साम्मद राजा है, **जलचर** इसकी प्रजा है, **"इतिहासवेद"** इनका वेद है। **तार्क्ष्यवैपश्यत** राजा है, **पक्षि** इसकी प्रजा है, **"पुराण"** इनका वेद है। **धर्म्मेन्द्र** राजा है, **देवता** इसकी प्रजा है, **सामवेद** इनका वेद है। **इसी प्रकार यमवैवस्वत राजा है, पितर** इसकी प्रजा है, **यजुर्वेद** इनका वेद है।

राजा (क्षत्रम्)	प्रजा (विश')	वेद (वीर्य्य)	अहानि
१–मनुर्वैवस्वत ——	मनुष्या ———→	ऋग्वेद ———	प्रथमम्
२–यमो वैवस्वत ——	पितर ———→	यजुर्वेद ———	द्वितीयम्
३–वरुण आदित्य'—	गन्धर्वाः———→	अथर्ववेद ———	तृतीयम्
४–सोमो वैष्णव ——	अप्सरस ———→	आङ्गिरसवेद ———	चतुर्थम्
५–अर्बुद काद्रवेय —	सर्पा ———→	सर्पवेद ———	पञ्चमम्
६–कुबेरो वैश्रवण —	रक्षासि———→	देवयजनवेद ———	षष्ठम्
७–असितो धान्व —	असुरा ———→	मायावेद ———	सप्तमम्
८–मत्स्य साम्मद'—	उदकेचरा ———→	इतिहासवेद ———	अष्टमम्
९–तार्क्ष्यो वैपश्यत —	वयासि———→	पुराणवेद'———	नवमम्
१०–धर्म्म इन्द्र ——	देवा.———→	सामवेद ———	दशमम्

स एष विराट्प्रजापतिर्दशहोता वा दशाहयज्ञ सर्वेश्वर सर्वेषा प्रतिष्ठा ।

जिन पितरो का वेद यजु- है, दूसरे शब्दो मे जिनका परिचायक यजुर्वेद है, श्रुति ने उन्हे **(स्थविर)** शब्द से सम्बोधित किया है । सौम्य पितरप्राण का सम्बन्ध परमेष्ठी के साथ है, यह विज्ञ पाठको को विदित है। परमेष्ठी अप्प्रकृतिक है । इसका विकास प्राणप्रकृति स्वयम्भू से होता है । अव्यक्त स्वयम्भू त्रयी वेदमय है । इसका यजुभाग यत्–जू भेद से प्राण–वाग्रूप है । प्राणव्यापार से यजु का यत्रूप वाक् भाग ही अशात्मना अब्रूप मे परिणत होता है—**"सोऽपोऽसृजतवाच एव लोकात् वागेव साऽसृज्यत"** (शत० ६।१।१°") । यजुवाक् से उत्पन्न यह अप्तत्व भृगु अङ्गिरात्मक है—"आपोभृग्वङ्गिरोरूपम्" (अथर्व.) भृगु की अवस्था विशेष ही सोम है । तन्मय–प्राण ही पितर है । इस प्रकार परम्परया यजुरूपा वाक् का पितरप्राण का प्रभवत्व सिद्ध हो जाता है । यजुवाक् ही पितर का आत्मा है, इसी आधार पर **"पितरो वाक्यमिच्छन्ति"** यह कहा जाता है । इसी रहस्य को लक्ष्य मे रख कर श्रुति ने कहा है कि **"पितरों का वेद यजु है, यजु ही (यजु का स्वरूप वाक् भाग ही) पितृ–तत्त्व का यथार्थ मे परिज्ञाता है"।**

२६—"शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरः"—(शत० २।१।३।१)

"शरत्–हेमन्त–शिशिर (यह तीन ऋतुएँ) पितर है"। इस वचन का अर्थ पूर्व से गतार्थ है। सवत्सर की अवयवभूता ६ ऋतुओ मे अग्नि और सोम का **उद्ग्राभ** (चढाव) **निग्राभ** (उतार) है। शरदादि तीन ऋतुओ मे सोम का उद्ग्राभ एव अग्नि का निद्ग्राभ है, वसन्तादि तीन ऋतुओ मे सोम का निग्राभ एव अग्नि का उद्गाभ है। आग्नेय प्राण ही देवता है, अतएव तत् प्रधान वसन्तादि तीन ऋतुओ को देवता कहा जाता है—"वसन्तोग्रीष्मोवर्षा ते देवाऋतव" सौम्य–प्राण पितर है, अतएव तत् प्रधान शरदादि ऋतुओ को श्रुति ने पितर कहा है। "**षड्वाऋतव पितर**" इस पूर्व श्रुति मे पितर शब्द उपादान भाव से सम्बन्ध रखता है, जैसाकि उक्त श्रुत्यर्थ निरूपण मे कहा जा चुका है, एव प्रकृत श्रुति मे उपात्त पितर शब्द का सौम्यप्राण से सम्बन्ध है।

२७—"ऋतवः खलुवै देवाः पितरः। ऋतूनेव देवान् पितॄन् प्रीणाति। तान् प्रीतान् मनुष्याः पितरोऽनु प्रपिपत्ते।" (तै० ब्रा० १।३।१०।५)

"(**शरदादि तीनो**) **ऋतुएँ ही देवरूप पितर है। ऋतुरूप देवताओ को ही तृप्त करता है। इन (दिव्य) पितरो के तृप्त होने पर इनका अनुगमन करते हुए मनुष्य तृप्त होते है।**" दिव्य एव मनुष्य भेद से पितर दो प्रकार के है। प्राकृतिकनित्यआधिदैविक पितर **दिव्य पितर है** यही पितृलोक के अधिष्ठाता है। मनुष्य शरीर के उत्क्रान्त कर्म्मात्मा के साथ उत्क्रान्त होने वाला पितरप्राणयुक्त महानात्मा (प्रेतात्मा) मनुष्य पितर है। यह उन दिव्य पितरो की प्रजा है। पितृलोक मे पहुँचने के अनन्तर यह प्रेतपितर, किंवा मनुष्य पितर उन ऋतुरूप दिव्य पितरो मे अन्वाभक्त (सगत) हो जाते है। इनका स्वरूप भी शरदादि ऋतुओ के प्राण से युक्त हो जाता है, फलत शरत्(१)–हेमन्त(२)–शिशिर(३) यह तीन ही तो दिव्य पितर हो जाते है, एव शरत्(१)–हेमन्त(२)–शिशिर(३) इन तीनो से कृत शरीरी प्रेत-पितर भी त्रिपर्वा बन जाता है। सभूय ६ ऋतु-पितर हो जाते है इनमे तीन दिव्य पितरो के लिए तो आरम्भ मे तीन आहुतिएँ दी जाती है, एव तीन प्रेत-पितरो के लिए अनन्तर **तीन पिण्ड** दिए जाते है। दिव्य पितर **आहुति-भाजन** है, प्रेत-पितर **पिण्ड-भाजन** है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"देवान् वै पितॄन् प्रीतान मनुष्याः पितरोऽनुप्रपिपत्तेः। तिस्र आहुतिर्जुहोति, त्रिर्निदधाति, षट् सम्पद्येत षड्वा ऋतवः।" (तै० १।३।१०।५)

पाठको को ध्यान रखना चाहिए कि यहाँ ६ ऋतुओ से शरत्–हेमन्त–शिशिर इन तीन ऋतुओ का युग्म ही अभिप्रेत है। तात्पर्य यही है कि वसन्त–ग्रीष्म–वर्षा–शरत्–हेमन्त–शिशिर इन ६ ऋतुओ का

प्रकृत मे कोई सम्बन्ध नही है। यहाँ शरदादि तीन ऋतुओ का युग्म ही **"षड्वा ऋतव"** से अभिप्रेत है। क्यो कि यही ऋतुएँ सोम प्रधान होने से पितर प्राणयुक्त है। पाठको को यह विदित हुआ होगा कि श्रुति ने पितर शब्द से अभिप्राय परलोक गत प्रेतात्मा का ही ग्रहण किया है, साथ ही मे यह भी स्पष्ट है कि इनकी तृप्ति के लिए पिण्डदान का विस्पष्टतम **विधान** है, फिर भी जो वेदभक्त पिण्डदान लक्षण श्राद्ध को अवैदिक बतलाने का साहस करते है, उनका वेद कौनसा है ? यह अविज्ञात है।

~~~~~~

२८—निधनम्पितृभ्य· (प्रायच्छत्), तस्मादु ते निधनसंस्थाः" (जै०उ० १।१२।२)

"(**प्रजापति ने दाय विभाग करते समय**) **निधन** (**मृत्युभाव**) **पितरो को सौंपा, अतएव वे निधन सस्थ है।"** जीवात्मा (तद्युक्त महानात्मा) परलोक मे जाने पर ही "पितर" नाम से प्रसिद्ध होता है, उक्त श्रुति इसी अर्थ का समर्थन करती है।

~~~~~~

२९—"यनिवैषां तस्मिन्त्संग्रामेऽघ्नस्तान् पितृयज्ञेन समैरयन्त, पितरो वै त आसन्। तस्मात् पितृयज्ञो नाम।" (शत० २।६।१)

"जिनको उस संग्राम में मार डाला था, उन्हें पितृ-यज्ञ से (पितृ-कर्म्म से) पुन. संगत किया, संग्राम में मारे गए वे (परलोकगत) प्राणी पितर ही थे। (इन्हीं के सम्बन्ध से यह यज्ञ) कहलाया।" यह श्रुति भी मृतात्माओ को ही पितर मानती हुई, उनका पितृयज्ञ मे सम्बन्ध बतलाती है।

~~~~~~

३०—"अपक्षयभाजो वै पितरः" (कौ० ब्रा०.. .)

"पितर अपक्षयभाज है।" क्षयभाव पितृप्राण का स्वरूपधर्म्म है। सोम-तत्व ही अन्न है। सोम सदा अग्नि का अन्न रहता है। दूसरे शब्दो मे सौमान्न सदा क्षयभाव से आक्रान्त रहता है। यही सोम पितरो का आत्मा है, फलत पितरो का अपक्षय भाजनत्व सिद्ध हो जाता है। अपिच शरीर महानात्मा की **पितर** सज्ञा मरने के पश्चात् ही होती है, यही पितर का क्षयभाव है। इस दृष्टि से भी इन्हे अपक्षय भाजन माना जा सकता है। श्रुति ने क्षयभाजन कह कर अपक्षयभाज कहा है। 'अप्' शब्द निम्न गति का सूचक है। जिस प्रकार अग्नितत्त्व हृदय से प्रधि की ओर (उत्तरोत्तर विशकलित होना हुआ) जाता रहता है, एवमेव सोम-तत्त्व उत्तरोत्तर सकुचित होता हुआ प्रधि से केन्द्र की ओर आता रहता है। यही सोम का अप्भाव है। अप्भावापन्न सोम नीचे आता हुआ, ऊपर जाते हुए अग्नि मे आहुत होता हुआ स्वस्वरूप से क्षीण होता जाता है। यही इसका **अपक्षय भाव है। तद्युक्त पितर** का यही अपक्षय भागत्व है।
~~~~~~

३१—"तस्मै (चन्द्रमसे) पूर्वाह्णे देवा अशनमभिहरन्ति मध्यन्दिने मनुष्याः, अपराह्णे पितरः" (शत० १।६।३।१२)

"उस (चन्द्रमा) के लिए **पूर्वाह्ण मे देवता भोजन इकट्ठा करते है, मध्यन्दिन में मनुष्य एवं अपराह्ण मे पितर (अन्न संभरण करते है)** ।" प्रात सवन, माध्यन्दिन सवन्, सायसवन भेद से सौर अहर्यज्ञ तीन भागो मे विभक्त है । इन तीन सवनो का विभाजक मध्य का विषुवद्वृत्त है । यह विष्वद् रेखा अद्यतन—अनद्यतन की विभाजिका है । यही वृत्त "मध्याह्नरेखा" नाम से प्रसिद्ध है । इसी से मित्र–वरुण–कपाल का स्वरूप सम्पन्न होता है । रात्रि के बारह बजे से दिन के बारह बजे तक का अर्द्ध-कपाल **मित्रमण्डल** है, दिन के बारह बजे से रात्रि के बारह बजे तक का अर्द्धकपाल **वरुण मण्डल** है । मित्र मण्डल **पूर्वकपाल** है, तदवच्छिन्न काल अद्यतन है । वरुणमण्डल **पश्चिम कपाल** है, तदवच्छिन्न काल अनद्यतन है । इससे बतलाना यही है कि मध्याह्न रेखा ही विषुवत् है । इससे पहिले का काल **पूर्वाह्ण** है, पीछे का काल अपराह्ण है । स्वय विषुवकाल मध्याह्न है । पूर्वाह्न मे अग्नि की प्रधानता है, अपराह्न मे सोम का प्रभुत्व है, विषुव मे अग्निसोम की समानता है । सोमगर्भित अग्नितत्व देवता है, अग्निगर्भित सोमतत्त्व पितर है, अग्निसोमसमष्टि मनुष्य है । इसी आधार पर पूर्वाह्ण **देवकाल** है, **अपराह्ण पितृकाल** है, मध्याह्न **मानुष काल** है । भौम औषधिरस पूर्वाह्न मे देवताओ द्वारा चन्द्रमा मे चित होता है, मध्याह्न मे मनुष्यो द्वारा, अपराह्ण मे पितरो द्वारा चन्द्रमा की क्षतिपूर्ति होती है । इसी नित्य सिद्ध स्थिति के अनुसार **श्राद्ध कर्म्म अपराह्ण मे ही किया जाता है ।**



३२—"यदि नाश्नाति पितृ देवत्यो भवति" (शत० ११।१।७।२)

"इष्टि की इच्छा रखने वाले यजमान को अमावस्या के दिन उपवास करना पडता है । यह दिन **"उपवसथाह"** कहलाता है । प्रतिपत् को यजमान इष्टि करने वाला है । इसी सकल्प से प्राण-देवता यजमान के गृहपति अग्नि के समीप व्याप्त हो जाते है । इस प्रकार यजन से पहिले ही दिन देवता इसके घर मे आ जाते है । ऐसी अवस्था मे यह आवश्यक हो जाता है कि जब तक इन अतिथि देवताओ को आहुति न दे दी जाय, तब तक यजमान कुछ न खाय । इसीलिए इसे उपवास करना पडता है । इस पर श्रुति ने पूर्वपक्ष उठाया है कि यदि अतिथि मर्य्यादा को लक्ष्य मे रख कर यजमान कुछ नही खाता है तो देवमर्य्यादा का पालन तो हो जाता है, परन्तु पितृमर्य्यादा का उल्लघन हो जाता हे । आज अमावस्या है । चान्द्रसोम आज भूपिण्ड पर व्याप्त है । तद् द्वारा पितरप्राण सर्वत्र व्याप्त हो रहा है । यदि यजमान कुछ नही खाता है तो, **"अशानाया"** (भूख) सूत्र से आकर्षित पितर प्राण अध्यात्म मे प्रविष्ट हो जाता है । ऐसी अवस्था मे इसका यह देव-कर्म्म "पितृ-कर्म्म' बन जाता है । इस विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए कुछ भोजन करना आवश्यक है । परन्तु भोजन से देवमर्य्यादा का विरोध होता है । ऐसी अवस्था

मे क्या करना ? इसका समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि **"इस दिन ऐसी वस्तु खानी चाहिए, जिसे देवता न खाते हो।" ऐसी स्थिति मे अशनाया के शान्त होने पर पितरप्राण इसके आत्मा मे प्रविष्ट नही होता, एवं अतिथि मर्य्यादा का उल्लघन भी नही होता।"** यही "व्रतोपायनकर्म्म" है। इससे प्रकृत मे हमे यही बतलाना है कि पितर-प्राण विशेष है, न कि जीवित पितर पितामहादि।



३३—"अनपहृतपाप्मानः पितरः" (शत० २।१।३।४)

"पितर अनपहृत पाप्मा है।" अग्न्याधान किस समय करना ? इस विषय का निर्णय करते हुए श्रुति ने कहा है कि उत्तरायणकाल मे ही अग्न्याधान करना चाहिए। कारण देवता अपहृत पाप्मा है, अमृत भावापन्न है। दक्षिणायन काल मे अग्न्याधान नही करना चाहिए। कारण पितर मर्त्यभावापन्न होने से अनपहृत पाप्मा (मृत्युरूप पाप्मा से युक्त) है। यदि यजमान इस काल मे अग्न्याधान करेगा तो वह यजमान नियत आयु से पहिले ही मर जायगा। इस प्रकार श्रुति ने स्पष्ट शब्दो मे पितर का प्रेतात्मा के साथ ही सम्बन्ध माना है।



३४—"य एवापूर्यतेऽर्धमासः स देवाः योऽपक्षीयते स पितरः" (शत० २।१।३।१)

"आपूर्यमाण पक्ष (शुक्ल पक्ष) देव रूप है, अपक्षीयमान पक्ष (कृष्ण पक्ष) पितर है।" अग्नि-सोम की समष्टिरूप सवत्सर देव-पितृमूर्ति है। वसन्त–ग्रीष्म–वर्षारूप आपूर्यमाण अयन (षण्मासात्मक उत्तरायण काल) देव प्रधान है, शरत्–हेमन्त–शिशिर रूप अपक्षीयमान अयन (षण्मासात्मक दक्षिणायन काल) पितर प्रधान है। शुक्ल-पक्ष देवमय है, कृष्ण-पक्ष पितरमूर्ति है। अह काल (दिन) देवमय है, रात्रि पितर है। केवल दिन मे भी पूर्वाह्ण भाग देवमय है, अपराह्णकाल पितरमय है। इस प्रकार महादशा–दशा–अन्तर दशा—प्रत्यन्तर दशा—प्राण दशा—ादि की तरह यह देव पितर प्राण पर्व-पर्व मे व्याप्त है। क्या जीवित पितादि ही उक्त काल पर्वो मे व्याप्त है ?



३५—"पितृदेवत्यो वै कूपः खातः" (शत० ३।६।१।१३)

"कूप एवं खड्डे पितृ देवत्य है।" पाठको को स्मरण होगा कि हमने पूर्व मे प्रकाश का देवता के साथ, अन्धकार का असुरो के साथ सम्बन्ध बतलाया है। पितर इन दोनो की सन्धि मे है। अतएव यह प्रकाशिताप्रकाशित रूप होने से छायामय है। छाया मे घोर अन्धकार भी नही है, आतपरूप प्रकाश भी

नही है। छाया मे पितर प्राण की ही प्रधानता है, अतएव पितृकर्म्म मे पात्र अधोमुख कर दिये जाते है। कूप एव खातो मे छाया की प्रधानता है, अतएव इन्हे पितृ देवत्य कहा गया है।

३६—"अथ या रोहिणी. श्येताक्षी सा पितृदेवत्या, यमिदं पितृभ्यो घ्नन्ति"

(शत० २।४।२।६)

"जो रोहिणी (लाल) श्येताक्षी गौ है, वह पितृदेवत्या है, जिसको कि पितरो के लिए (श्राद्ध-कर्म्म मे) मारते है।" पितरो के लिए श्राद्धकर्म्म मे मासबलि का विधान है, यह उक्त श्रुति से सिद्ध है। रक्त और श्वेत दो वर्ण पितरो से सम्बन्ध रखते है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा।

३७—"सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरः"—(२।४।२।६)

"पितर सकृत् है, पराङ्भाग से आक्रान्त है"। देवता और पितर दोनो ही प्राणात्मक है, इसमे कोई सन्देह नही, परन्तु दोनो प्राणो के व्यापार मे अन्तर है। देवप्राण, प्राणदपानत् भाव से सम्बन्ध रखता है, एव पितरप्राण केवल अपानत् भाव से सम्बन्ध रखता है। कारण इसका यही है कि अग्नि, विकासशील है, सोम सकोचधर्म्मा है। विकास मे गति–आगति दोनो भाव रहते है, गतिभाव अपानत् है, आगति भाव प्राणत् है। सौर–रश्मि मे आतप छाया की सीमा मे आप इन दोनो व्यापारो का साक्षात्-कार कर सकते है। सकोचभाव के कारण निम्नगतिरूप आगति भावात्मक सोम मे केवल अपानत् व्या-पार ही होता है, यही पितर का सकृत् भाव एव पराङ्भाव हे। प्राणदपानत् व्यापार मे सन्धिभाव से तीन भावो का उदय हो जाता है। इसी आधार पर देवताओ को "त्रिसत्य" कहा जाता है। जहाँ त्रिसत्य देवताओ के लिए तीन बार आहुति दी जाती है, वहाँ सकृत् पितरो के लिए सकृत् (एक बार) ही आहुति दी जाती है।

३८—"ऊमा वै पितरः प्रातः सवने, ऊर्वा माध्यन्दिने, काव्यास्तृतीय सवने"

(तै० स० ४।४।७)

"ऊमा नाम के पितर प्रात सवन मे, ऊर्वा नाम के पितर माध्यन्दिन सवन मे, काव्य नाम के पितर साय सवन मे प्रतिष्ठित है"। दिव्य **नान्दीमुख** पितरो का सौर देव–प्रधान ऊमा पितरो के साथ, आन्तरिक्ष्य **पार्वण** पितरो का ऊर्वा पितरो के साथ एव पार्थिव **अश्रुमुख** पितरो का दिव्य पितरो के साथ सम्बन्ध है।

३९—"एतद्ध वै पितरो मनुष्यलोका आभक्ता भवन्ति, यदेषां प्रजा भवति"।
(शत० १३।८।१।६)

"इस प्रकार से पितर मनुष्य लोक मे सयुक्त होते हे जो कि इनकी प्रजा होती है"। तात्पर्य यही है कि पिता की शुक्राहुति द्वारा शुक्र मे प्रतिष्ठित रहने वाला अष्टाविशति कल (२८) पितर पुत्र–पौत्र–प्रपौत्रादि मे सात पीढी तक वितत होता है। जिस मनुष्य के सन्तान नही होती, उस मनुष्य का पितर प्राण सदा के लिए चन्द्रमा मे ही प्रतिष्ठित रहता है। उसका सम्बन्ध पृथिवी से टूट जाता है। परन्तु प्रजा द्वारा वह पृथिवी मे (अ शात्मना) अवश्य ही अन्वाभक्त रहता है।

४०—"अथ यदेव प्रजामिच्छेत्–तेन पितृभ्य ऋणं जायते। तद्धयेभ्य एतत् करोति, यदेषां सन्तताव्यवच्छिन्ना प्रजा भवति"।—(शत० १।७।१।४)

"जो मनुष्य प्रजा (सन्तान) की इच्छा करे, इससे पितरो के लिए ऋण हो जाता है। वही (ऋण परिशोध) यह इनके लिए करता है, जो कि इनकी प्रजा सन्तत अव्यवच्छिन्न होती है। तात्पर्य यही है कि पुत्र अपने पिता से जिस शुक्र का लेता है, इस आरम्भक शुक्र द्वारा पितर–प्राण का यह कर्जदार बन जाता है, यही पितृऋण है। इससे मुक्त होने का उपाय है सन्तान-वितान। प्रजोत्पत्ति ही पितृ-ऋण से मुक्त होने का अन्यतम उपाय है, जैसा कि **ऋणमोचनोपायोपनिषत्** मे विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

४१—"स्वधो (स्वधा–उ) वै पितृणामन्नम्"—(शत० १३।८।१।४)

"स्वधा ही पितरो का अन्न है"। स्वधा कोई विशेष अन्न नही है, अपितु जिस प्रकार तण्डुलान्न (पुरोडाश) देवता के सम्बन्ध से "स्वाहा" कहलाता है, एवमेव वही तण्डुलान्न (पिण्ड) पितरप्राण सम्बन्ध से **"स्वधा"** नाम से व्यवहृत होने लगता है। स्वाहान्न का बहिर्याग भाव से सम्बन्ध है, एव स्वधान्न का अन्तर्य्याग भाव से सम्बन्ध है। इन सब अन्नो की वैज्ञानिक उपपत्ति आगे के प्रकरणो मे बतलाई जाने वाली है।

४२—"ह्रीकाः पितरः"—(तै० ब्रा० १।३।१०।६)

"पितर ह्रीक (लज्जाशील) है"। पिण्डपितृयज्ञ मे अध्वर्यु दक्षिणाभिमुख बैठ कर पहिले पितरो के लिए पिण्डदान करता है। पिण्डदान करने के अव्यवहितोतरकाल मे ही पिण्ड पर से दृष्टि हटा कर पाराङ्मुख बन जाता है। कारण इसका यही है कि पितर सौम्य है। सोमभाव ही लज्जा की आवासभूमि है। जिस प्रकार सोमगर्भित अग्नि पुरुष का उपादान बनता है एवमेव अग्निगर्भित सोम स्त्री का आरम्भक बनता है। पुरुष आग्नेय है, स्त्री-सौम्या है। इसी सोम की प्रधानता से स्त्री मे पुरुष की अपेक्षा से लज्जाभाव अधिक मात्रा मे होता है। इसी सौम्यभावमूलक लज्जाभाव को लक्ष्य मे रख कर धर्म्म-शास्त्र मे भोजन करती हुई स्त्री को देखने का निषेध है। आज पितर इस पिण्डान्न का भोजन करने वाले है। पितर सौम्य है, फलत. इनका लज्जाशीलत्व सिद्ध हो जाता है।



४३—"पितृणां मघाः"—(तै० ब्रा० १।६।१।२)

"पितरो का नक्षत्र मघा है।" मघा नक्षत्र और हस्त नक्षत्र का परस्पर मे घनिष्ट सम्बन्ध है। आकाश मे हस्त नक्षत्र दो प्रकार के है। एक तो **पञ्चाङ्गुलि युक्त हस्त** के आकार का है, दूसरा बाहू के आकार का है। इसी को **गजच्छाया** कहा जाता है। मघा नक्षत्र पर जब सूर्य्य आता है, तभी इसके साथ गजच्छायारूप इस हस्ते नक्षत्र का योग होता है। यही श्राद्धकाल है। इस काल मे पितरप्राण अधिक मात्रा मे भूपिण्ड पर आता है। जिस समय सूर्य्य मघा नक्षत्र पर आवे, उस समय छत पर खड़े हो जाइए और आकाश के अद्भुत आश्चर्यप्रद दृश्यो पर दृष्टि डालिए। उसी दाह्य सौम्यप्राण की प्रधानता से इस काल मे आकाश मे से अनन्त अग्निखण्ड (तारे) गिरा करते है।



उपर्युक्त निगम वचनो से स्पष्ट हो जाता है कि पितर तत्त्व अवश्य ही किसी तत्त्व विशेष का वाचक है। वही तत्तत् स्थान विशेष के सम्बन्ध से एव तत्तत् कर्म्म विशेष के सम्बन्ध से ऋतु-सोम-ऊमा-ऊर्वा आदि विविध नामो से व्यवहृत हो रहा है। इस प्रकरण मे प्रधानरूप से हमे **दिव्यपितर-ऋतुपितर-प्रेतपितर** इन तीन पितर-प्राणो का स्वरूप बतलाना है। **"पितर शब्द केवल जीवित पिता पितामहादि का ही वाचक नही है, विशेषत जिन पितरो के लिए श्राद्ध किया जाता है, वे तो जीवित पितर कथमपि नही हो सकते, श्राद्ध सम्बन्धी पितर हमारी दृष्टि से परे की वस्तु है, उनका निवास लोकान्तर मे है। उन्ही की तृप्ति के लिए श्रद्धासूत्र द्वारा पिण्डदानादि श्राद्ध कर्म्म किए जाते है।"** हमे उक्त प्रमाणो से केवल यही सिद्ध करना था। हमे विश्वास है कि इन प्रमाणो की मीमासा करने के अनन्तर **"सनातन-धर्म्माभिमत मृतपितर श्राद्धकर्म्म पर अविश्वास का कोई कारण शेष नही रह जायेगा।"** जिन महानुभावो कोइ सकी प्रामाणिकता मे और भी अधिक जिज्ञासा हो उन्हे तत्तद्ब्राह्मणोक्त "पिण्डपितृयज्ञ' प्रकरण देखना चाहिए। कितने ही वेदाभिमानीअपने कल्पित सिद्धान्त की कल्पना का उच्छेद करने वाले पिण्डपितृयज्ञ ब्राह्मणो को प्रक्षिप्त मानते है। अतएव हमने मूलसहिता एव पितृयज्ञातिरिक्त इतर ब्राह्मण वचनो द्वारा भी इस विषय की पुष्टि का प्रयास किया है।

उचित था कि शास्त्रीय प्रश्न मीमासा—प्रमाणवाद को यही समाप्त कर निरूपणीय विषय का आरम्भ किया जाता। परन्तु सर्वक्षा अप्रस्तुत होने पर भी हम उन ऋपिसन्तानो के सम्बन्ध मे प्रसगागत अपने शोकोच्छ्वास प्रकट करना चाहते हैं, जो कि अहर्निश **वेद** का डिण्डिमघोष करती हुई भी वैदिक साहित्य के मर्म्मार्थ से स्वय पथभ्रष्ट होती हुई अबोध किन्तु श्रद्धालु मनुष्यो को भी इन वेदसिद्ध साथ ही मे अत्यावश्यक कर्म्मो से पथभ्रष्ट बनाती हुई हमारी अन्तर्वेदना का कारण बन रही है।

सनातनधर्म्मी मृत पितरो के लिए श्राद्ध करते है, आर्यसमाजी जीवित पितरो का श्राद्ध करते है। केवल इतिकर्त्तव्यता मे अन्तर है। दोनो की ही दशा आज दयनीय बन रही है। पहिले सनातनधर्म्मियो को ही लीजिए। मृत पितर श्राद्ध को सर्वथा वैदिक मानता हुआ भी सनातन धर्म्मी जगत् आज इस सम्बन्ध मे सर्वथा अन्धभक्त एव पद्धति से एकान्तत विमुख है। दूसरे शब्दो मे यो कहा जा सकता है कि श्राद्ध मानने वाले एव करने वाले यह धर्म्माभिमानी श्राद्ध न मानने वालो से अधिक लक्ष्यच्युत एव प्रायश्चित्त के भागी है। आज इनकी दृष्टि मे '**यदेव विद्यया श्रद्धयोपनिषदा करोति तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति**' इस श्रौत आदेश का कोई मूल्य नही है। यह मान लेने एव कहने मे हम जरा भी सकोच नही करते कि वर्तमान युग मे श्राद्ध पर जो अनास्था देखी जाती है, मृतपितर श्राद्ध को अवैदिक बतलाया जा रहा है, इसका एकमात्र कारण उपपत्ति ज्ञान शून्य इन धार्म्मिको की धर्म्मविश्रृङ्खलता ही है। इधर हमारे विद्वत् समाज की मनोवृत्तिएँ कैसी है, यह भी देखिए।

जयपुर से प्रकाशित होने वाले सस्कृत साहित्य सम्मेलन के मुखपत्र **सस्कृतरत्नाकर** नाम के मासिक पत्र मे तत्प्रकाशक श्रद्धेय म०म० **श्री गिरिधर शर्म्मा चतुर्वेदी जी** ने एक बार "**शास्त्रीयः प्रश्न. विद्वान्सो महाभागा निर्णयन्तु—क इमे पितर. ? इति**" इत्यादि रूप से पितृस्वरूप जिज्ञासा प्रकट की थी। लेखक पूज्य शर्म्मा जी की महत्ता से परिचित है। इसे यह विश्वास है कि यदि शर्म्मा जी चाहते तो वे स्वय ही उक्त प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान भी कर सकते थे, परन्तु ऐसा न कर केवल प्रश्नरूप से उक्त विषय को उपस्थित करने का उनका एकमात्र यही अभिप्राय था कि विद्वत् समाज मे इस प्रश्न की चर्चा छिड़े, प्रश्नोत्तर परम्परा से धार्म्मिक जनता मे इस विषय का पूर्ण प्रसार हो। परन्तु दुख के साथ लिखना पडता है कि साधारण से साधारण कर्म्म के सम्बन्ध मे भी पूर्ण मीमासा कर तद्द्वारा निश्चित सिद्धान्त पर पहुचने वाला भारतीय विद्वत् समाज "**यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म्म वेदनेतरः**" इस मानव सिद्धान्त के प्रथम द्रष्टा भारतीय विद्वान् उक्त प्रश्न के सम्बन्ध मे आज तक कोई सन्तोषप्रद उत्तर न दे सके।

विद्वानो की ओर से कोई समाधान न होता, तब भी सन्तोष था। परन्तु दुखमिश्रित आश्चर्य तो हमे तब हुआ जब कि **काजड़ा** सस्कृत पाठशाला के अध्यापक **श्री रामधन जी** ने शर्म्मा जी के प्रश्न को ही अशास्त्रीय मानने की घोषणा कर दी। अविज्ञेय विश्वातीत परात्पर के स्वरूप लक्षण को सर्वथा अचिन्त्य एव अप्रतर्क्य मानते हुए ऋषियो ने जहाँ "**यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**" यह उद्गार प्रकट किए है, उसी अचिन्त्य भाव के लिए आप्त पुरुषो ने—"**अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्**" यह कहा है, वहाँ विश्वसीमान्तर्गत, अतएव सर्वथा ज्ञेय, सर्वथा मीमास्य उन पितरो के

सम्बन्ध मे भी महानुभाव पण्डित जी ने उक्त श्लोक का उद्धरण देते हुए अपनी दिव्य स्मृति का परिचय दिया है। इस प्रकार—"**अशक्तास्तत् पदं गन्तुंस्ततो निन्दा प्रकुर्वते**" "**मुखमस्तीति वक्तव्य दशहस्ता हरीतकी**" इन किवदन्तियो को चरितार्थ करने का सौभाग्य प्राप्त किया है। और आगे चलिए। काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान् **श्री रामभवनोपाध्याय** महोदय ने तो प्रश्न की भाषा मे ही दोष बतलाया है। अवच्छेदकावच्छिन्न परम्परा का आश्रय लेते हुए श्रीमानो ने व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह निर्णय करने का अनुग्रह किया है कि शर्म्मा जी को प्रश्न करना ही नही आता। उनका प्रश्न-विचार व्युत्पत्ति दृष्ट्या सर्वथा अशुद्ध है, प्रथम तो भारतमूर्द्धन्य शर्म्मा जी की युक्तिवादपूर्ण विद्वत्ता ही उक्त आक्षेप को निर्मूल बना देती है। यदि अभ्युपगमवाद से प्रश्न भाषा अशुद्ध भी मान ली जाय, तब भी हम उन्ही से यह आशा कर सकते थे कि माननीय पण्डित जी यथेच्छ अवच्छेदकावच्छिन्न भावो का समावेश करना चाहते, कर लेते, प्रश्न को सुधार लेते, परन्तु उत्तर देने का अनुग्रह तो करते। क्या प्रश्नकर्त्ता को कुछ उलटी-सीधी मनमानी सुनाने मात्र से ही उनका कर्त्तव्य समाप्त हो गया? हमने तो सोचा था कि पण्डित जी का यह गर्ज्जन अवश्य ही कभी वृष्टि करेगा। आज उस घटना को लगभग चार वर्ष हो गए, परन्तु आज तक इस सम्बन्ध मे आपने अपने उदार विचार प्रकट करने की आवश्यकता न समझी। सम्भव है आपने ऐसे साधारण विषय की चर्चा उठाना अपने स्वरूप के अयोग्य समझा हो। इस प्रकार यहाँ भी "**शेष कोपेन पूरयेत्**" यह वाक्य अन्वर्थ बना।

卐卐卐卐卐

शास्त्रीय प्रश्न-प्रतिवचन मीमांसा—

आगे जा कर भारतीय विद्वत् समाज की ओर से सर्वथा निराश होकर शर्म्मा जी ने स्वय ही "**शास्त्रीय प्रश्न प्रति वचनम्**" शीर्षक से श्री रामभवनोपाध्याय महोदय के शुष्क तर्काभास जाल को सम्यक् रूप से छिन्न-भिन्न करते हुए स्वय ही पितृविषयिणी जिज्ञासा को शान्त करने का उपक्रम किया था, परन्तु दु ख के साथ लिखना पडता है—कि इधर दो-तीन वर्षो से आप मदाग्नि रोग से पीडित होने के कारण अब तक अपना सकल्प पूर्ण नही कर सके है। इसी अवसर मे आपने इस सम्बन्ध मे कुछ लिखने की आज्ञा प्रदान की थी, परन्तु रत्नाकर के अल्प आयतन मे मै अपने विचारो का समावेश करने मे असमर्थ था। फलत शर्म्मा जी की उसी आज्ञा को शिरोधार्य कर लेखक ने यह निबन्ध लिखने का निश्चय किया है। प्राक्कथन मे जिन कारणो का उल्लेख किया है, उनमे से एक यह भी मुख्य कारण समझना चाहिए।

इस इतिवृत्त से बतलाना हमे यह था कि पितृ-श्राद्ध के सम्बन्ध मे न केवल पितृश्राद्ध के सम्बन्ध मे ही अपितु समस्त कर्म्मकलाप के सम्बन्ध मे सनातनधर्म्मी विद्वान् अपनी कितनी गति रखते है। जब विद्वानो की यह दशा है तो साधारण जिज्ञासु अपना सन्तोष न होता देख कर यदि इन शास्त्रीय कर्म्मों पर अविश्वास करते चले जायँ तो कोई आश्चर्य नही है। हमारा तो यह विश्वास है कि विद्वानो की इसी

मनोवृत्ति ने आर्य समाज को जन्म दिया है। इन्हीं *धार्मिक महानुभावो की उदासीनता ने इन मतानुयायी महाशयो को उच्छृङ्खल बना रक्खा है।

यह तो हुई मृतपितृ श्राद्धानुयायी सनातनधर्मियो की गुणगाथा। अब जीवितपितृ श्राद्धानुयायी महाशयो पर भी एक दृष्टि डालिए। आर्यसमाज का अपना कोई सिद्धान्त नही हे। **"सनातनधर्म्मी जो कुछ मानते है, वह सब अवैदिक होने से अमान्य है"** यही इनका सर्वप्रिय सिद्धान्त है। **"हम कुछ नही मानते, तुम जो कुछ मानते हो वह गलत है"** यही इनका अमोघशस्त्र है। यदि इन्हे अपने कल्पित सिद्धात का कही विरोध प्रतीत होता है तो उसके परिहार के लिए—**"यह प्रकरण प्रक्षिप्त है। ब्राह्मणो ने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए पीछे से कल्पित विषयो का** समावेश कर डाला है" यह उत्तर रखते है। सनातन-धर्म्मी जानते नही परन्तु मानते है। जो अन्ध श्रद्धा शास्त्र की रक्षा कर ले, वह उस सत्य श्रद्धा से कही बढ कर आदरणीय है जो कि कर्म्म कलाप को ही विलुप्त कर देती है। यदि सनातनधर्म्वी नही समझते तब भी **"यह शास्त्र का वचन है, इसे मानने मे ही हमारा कल्याण है"** यह मनोवृत्ति रखते है। इनकी इसी मनोवृत्ति से प्रबल आघातो को सह कर भी शास्त्र आज तक जीवित रह सका है। यदि इनकी भी— **"यह हमारी समझ मे नहीं आया, इसलिए नही मानते। यह अंश केवल कल्पना है, प्रक्षिप्त भाग है"** यही मनोवृत्ति होती तो सारा शास्त्र प्रक्षिप्त के झंझावात से अन्तरिक्ष मे विलीन हो जाता। आज आर्य समाज सनातन-धर्म्म की प्रत्येक आज्ञा का यथाशक्ति तिरस्कार करने मे ही अपने आपको कृतकृत्य समझते है, सबको अवैदिक बतलाते है। धार्मिक जगत् विधर्म्मियो का सामना कर सकता है, परन्तु जो शास्त्र उसमे भी शास्त्र–मूर्द्धन्य वेद का ही सहारा लेकर उत्पथ का आश्रय लेता है थोडी देर के लिए भोली जनता इस धोखे मे आ कर पथ-भ्रष्ट बन जाती है। आर्यसमाज ने यही किया। वेद का नाम लेकर ही उसने शास्त्रीय कर्म्मो का ग्रीवानिकृन्तन किया। उधर वेद के सम्बन्ध मे हमारे विद्वान् भी महाशया (महा–शया) बन रहे है। आर्य समाज की सफलता का यह दूसरा कारण हुआ। वेद-सिद्ध श्राद्ध के सम्बन्ध मे इन महाशयो का क्या सिद्धान्त है? यह भी सुनिए। पितृतर्पण का उल्लेख करते हुए **श्री स्वामी दयानन्द जी** लिखते है—

"पिता–पितामह–प्रपितामह–माता–पितामही–प्रपितामही–पत्नी–सम्बन्धी–सगौत्री आदि को अत्यन्त श्रद्धा से उत्तम अन्न, वस्त्र, सुन्दर यान आदि दे कर अच्छे प्रकार से जो तृप्त करना है, अर्थात् जिस-जिस कर्म्म से उनका आत्मा तृप्त और शरीर स्वस्थ रहे, उस-उस कर्म्म से प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा करनी—वह श्राद्ध और तर्पण कहलाता है।' (सत्यार्थप्रकाश ४ समुल्लास)।

---

*प्रकृति सिद्ध नित्यधर्म्म का अनुगमन करने वाले धार्मिक कहलाते है, एव साधारण मनुष्य की कल्पना शक्ति से प्रवृत्त होने वाली सम्प्रदाय **"मत"** है। धर्म्म और मत मे यही अन्तर है। सनातन धर्म्म धर्म्म है, आर्यसमाज समाज है, इसकी मूल प्रतिष्ठा मत है।

स्वामी जी ने "**ये सोमे जगदीश्वरे पदार्थविद्यायां च सीदानी ते सोमसद**" इत्यादि रूप से **सोमसद्, अग्निष्वात्ता, बर्हिषत्, सुकाली** आदि पितरो की व्युत्पत्ति की है। आगे जाकर तत्तद्गुणक जीवित पितादि को तृप्त करने का आदेश दिया है (द्रष्टव्य ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, दयानन्द सरस्वती)।

पितृ-तर्पण पञ्च-महायज्ञो के अन्तर्गत है, यह सर्वविदित एव सर्वसम्मत है। यह पञ्चयज्ञ न काम्य कर्म्म है, न नैमित्तिक, अपितु सन्ध्यादि की तरह नित्य-कर्म्म है। ऐसी दशा मे स्वामी जी के मतानुसार एक साधारण स्थिति के गृहस्थी को भी माता-पिता-बाबा-पडबाबा-अपनी स्त्री और सम्बन्धी, सम्बन्धी ही नही समान गोत्री सबको नित्य-प्रति भोजन कराना आवश्यक हो जाता है। क्यो कि नित्य विधियो के एक दिन के व्यवधान से भी प्रायश्चित का भागी होना पडता है। इनका तो प्रतिदिन करना परम आवश्यक है। यदि श्राद्ध का वस्तुत यही स्वरूप है तो अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से श्राद्धकर्त्ता थोडे ही समय मे स्वय श्राद्ध देवता बन सकता है। एक गृहस्थी के लिए उक्त विधान दैनिक रूप से कैसे सम्भव हो सकता है? यह स्वामी जी से ही पूछना चाहिए।

इसी प्रकार **ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका** मे श्राद्ध तथा तर्पण का स्वरूप बताते हुए स्वामी महाशय कहते है—

"……यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तच्छ्राद्धं वेदितव्यम्। तत्र विद्वत्सु विद्यमानेष्वेतत् कर्म्म संघटयते, नैव मृतकेषु। कुतः। तेषां प्राप्त्यभावेन सेवनाशक्यत्वात्। तदर्थं कृतकर्म्मणः प्राप्त्यभाव इति व्यर्थापत्तेश्च।"

(जो कि उनकी श्रद्धा से सेवा की जाती है उसी को श्राद्ध समझना चाहिए। इस परिस्थिति में विद्यमान विद्वानों मे ही यह श्राद्धकर्म्म घटित होता है, मृतको मे नही। क्यो? उनकी प्राप्ति के अभाव के कारण उनकी सेवा नही बन सकती। साथ ही मे उनके लिए किए हुए श्राद्धकर्म्म की उन्हे प्राप्त न होने से व्यर्थता भी है)।

स्वामी जी का अभिप्राय यही है कि मन्त्रो मे—

"आयन्तु नः पितरः सौम्यासः" "अत्र पितरो मादयध्वम्"

"उपहूता पितर" (**सौम्य पितर आवें—इस स्थान मे पितर रमण करे—पितर बुला लिए गए है**) इत्यादि रूप से पितरो का आह्वान, आसन-प्रदान आदि निर्दिष्ट है। बुलाना, आसन देना, यह सब कर्म्म जीवित शरीरधारी पितरो के सम्बन्ध मे ही बन सकते है। उन्ही को आहुति दी जा सकती है। पाठक विचार करे, इस कथन मे कितना तथ्य है। निराकार परमेश्वर की उपासना (आर्य्यसमाजियो के मतानुसार) बन सकती है, वह निराकार हमारो सब कुछ सुन लेता है, उसके सम्बन्ध मे हम सब कुछ कर सकते है किन्तु प्राणात्मक मृत पितरो के लिए हम कुछ नही कर सकते। परलोक मे जाने के बाद उनके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नही रहता। मानो, सूक्ष्म देवयोनिगत कोई पदार्थ तत्त्व है ही नही।

मृतपितरश्राद्ध की अवैदिकता उद्घोषित करते हुए उक्त महानुभाव कहा करते है कि मूल वेद (सहिता) मे एव तद्व्याख्या रूप ब्राह्मण भाग मे न तो कही श्राद्ध शब्द ही है, न कही श्राद्ध-पद्धति ही उपलब्ध होती है । आपत्ति यथार्थ है । हा तो कृपानाथ ! यह बतला दीजिए कि जब श्राद्ध शब्द ही वेद मे नही है तो आपका अभिमत श्राद्ध कैसे वैदिक हुआ ? मृत पितरो न सही, जीवित पितरो का श्राद्ध तो आप मानते है । बतलाइए, आपके श्राद्ध शब्द का आधार सहिता का कौनसा मन्त्र है ? यज्ञोपवीत शब्द सहिता मे नही है, न यज्ञोपवीत सस्कार की पद्धति ही है । छोड दीजिए, आप तो वेदभक्त बनने का दम भरते हुए अन्त्यज अन्त्यावसाइयो तक को इस पवित्र सस्कार से सस्कृत करते है । साथ ही मे मृत-पितर-श्राद्ध के उपोद्बलक वचन एव ब्राह्मण भाग मे **पिण्डपितृयज्ञ** नाम से पद्धति भी उपलब्ध होती है, आप इससे भी वञ्चित है । **तस्कर** शब्द वेद मे है, चोरी करना आवश्यक है । कितना भ्रम ? कैसा अज्ञान ? कितना अभिनिवेश !!!

प्रमाणोपनिषत् प्रकरणोपसंहार—

प्रमाणोपनिषत् का उपसहार करते हुए हम उन आर्य विद्वानो से करबद्ध प्रार्थना करते है कि वे कृपया स्थिर बुद्धि से इस सम्बन्ध मे विचार करे । **"मतावेश ही सत्यमार्ग का महा प्रतिबन्धक है"** यह उन्हे अपने लक्ष्य मे रखना चाहिए । **भूल देखना भूल नहीं है, परन्तु भूल देखने में भूल न हो, यह भी नहीं भूलना चाहिए ।"** प्रमाणोपनिषत् समाप्त हुई, अब क्रम प्राप्त "पितॄणा पितर विज्ञानोपनिषत्" नाम का द्वितीय प्रकरण आपके सामने आता है ।

इति—पितरस्वरूपविज्ञानोपनिषदि प्रमाणोपनिषत् समाप्ता:



अथ
पितर स्वरूपविज्ञानोपनिषदि
पितृणांपितरविज्ञानोपनिषद्
द्वितीया
[२]

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ।।

पितृस्वरूप विज्ञानोपनिषत् में अमृतात्म ब्रह्म का सिंहावलोकन

इस दूसरी **पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषद्** मे पितर तत्त्व का स्वरूप बतलाना है। यह तत्त्व सम्पूर्ण प्रजा का उत्पादक होने से ही "पितर" कहलाता है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रजोत्पादक यह पितृतत्त्व मौलिक है अथवा यौगिक है ? दूसरे शब्दो मे सबका आदि प्रवर्त्तक यही है अथवा इसका भी प्रवर्त्तक कोई दूसरा तत्त्व है ? इस प्रकरण मे इसी प्रश्न का समाधान करना है।

हमे पितरो के पितरो का स्वरूप बतलाना है। इसके लिए पूर्व की **अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्** को लक्ष्य मे रखना चाहिए। पितर **यौगिकतत्त्व** है, यज्ञ है। यौगिक तत्त्व की मूल प्रतिष्ठा मौलिक तत्त्व है। यही ब्रह्म है। यही अमृतात्मा है। यही षोडशीपुरुष है। फलत' यौगिक पितर-तत्त्व के सम्यक् परिज्ञान के लिए उस मौलिक अमृतात्म ब्रह्म का सिंहावलोकन आवश्यक हो जाता है।

"ब्रह्मैवेद सर्वम" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार **ऋषि, पितर, असुर, देवता, गन्धर्व, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, आकाश, वायु, तेज, जल, औषधि, वनस्पति, नद, नदी, सर, समुद्र, ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र, अष्टविधदेवयोनिएँ, मनुष्य, पशु, पक्षि, कृमि,** कीट भेद भिन्न **तिर्यक् योनिएँ, रस-उपरस, धातु-उपधातु, विष-उपविष,** इत्यादि-इत्यादि सम्पूर्ण विश्व–प्रपञ्च उस एक ही ब्रह्म की विभूति है। "एक वा इद विबभूव सर्वम्" के अनुसार वह एक ही ब्रह्म-तत्त्व नाना भाव मे परिणत हो रहा है। ऐसी अवस्था मे "यौगिक पितर तत्त्व का उपादान कौन है ?" इस उपर्युक्त प्रश्न का "ब्रह्म-तत्त्व ही पितर-प्राण का जनक है" यह सामान्य उत्तर हो सकता है।

यदि विशेष दृष्टि से विचार किया जाता है तो निम्नलिखित विशेष उत्तर हमारे सामने आता है। पितर स्वरूप-परिचय से पहिले इनके प्रभव-तत्त्व का स्वरूप जानना आवश्यक है। पितर-प्राण **कहाँ से, किससे, किस समय क्यों उत्पन्न हुए ?** इन चारो प्रश्नो का समाधान ही प्रकृत मे अपेक्षित है। जो ब्रह्म-तत्त्व सबका प्रभव है, उसके **अनिरुक्त, निरुक्त** भेद से दो विवर्त्त है। सर्वगुणसम्पन्न अतएव सर्वधर्मोपपन्न ब्रह्म निरुक्त (निर्वचनीय) है। सर्वगुणशून्य अतएव सर्वधर्मशून्य, निर्गुण, निष्कल, निरञ्जन ब्रह्म अनिरुक्त (अनिर्वचनीय) है। निरुपाधिक अनिर्वचनीय शुद्ध ब्रह्म रसमात्र है, वह वाङ्मय से अतीत है अतएव सर्वथा वाक्प्रपञ्च स्वरूप शास्त्र से अनधिकृत हैं, उसका न जानना ही उसका जानना है, "नेति-नेति" ही उस अलक्षण का लक्षण है। जब कि वहाँ शब्द-शास्त्र की गति ही नही तो फिर उसके स्वरूप परिचय के सम्बन्ध मे "नेति-नेति" के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है। यह अशास्त्रीय ब्रह्म कार्यकारण मर्यादा से सर्वथा अतीत है। फलत अनिरुक्त ब्रह्म का पितृकारणता के साथ भी कोई सम्बन्ध नही है। ऐसी अवस्था मे इसकी चर्चा को यही समाप्त कर निरुक्त ब्रह्म की ओर ही पाठको का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

निरुक्त ब्रह्म **विश्व–विश्वचर–विश्वातीत**—इन तीन अवस्थाओ मे परिणत हो कर ही सर्वप्रभव बनता है। सर्वबल विशिष्ट अनिरुक्त, व्यापक ब्रह्मतत्त्व का जो भाग मायावच्छेद से सीमित बनता हुआ **अक्षरात्मक** हृदयबल (कामना) की प्रेरणा से क्षर द्वारा विकार भावो का जनक बनता हुआ विकारावच्छेदेन सृष्टिस्वरूप मे परिणत हो जाता है। ब्रह्म का विकार क्षर-प्रधान, अतएव वैकारिक वह सृष्ट भाग ही **"विश्व"** कहलाता है। यहाँ आत्मा प्रविष्ट रहता है अतएव **"विशति यत्रात्मा"** इस निर्वचन के अनुसार ब्रह्म के इस सृष्टरूप को **"विश्व"** कहा जाता है। **"तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"** अपने क्षर-भाग से विकार द्वारा उत्पन्न अपने इस सृष्टरूप मे स्रष्टा अक्षर प्रविष्ट हो जाता है। अक्षरावच्छेदेन सृष्ट मे प्रविष्ट वही ब्रह्म **"विश्वचर"** है। विशुद्ध अव्यय की अपेक्षा मे कार्यकारणातीत वही ब्रह्म **"विश्वातीत"** है इस प्रकार **अमृतात्मा** की एक–अव्यय, दो-अक्षर तीन-क्षर, यह तीन प्रधान कलाएँ ही
१ २ ३
क्रमश विश्वातीत, विश्वचर, विश्व इन तीन स्वरूपो मे परिणत हो रही है। अमृतात्व विज्ञानोपनिषत्वेत्ता विद्वानो को यह स्मरण होगा कि उस प्रकरण मे हमने अनायी सर्वबलविशिष्टरसरूप **परात्पर** को विश्वातीत, **षोडशीपुरुष** नाम से प्रसिद्ध **अमृतात्मा** को विश्वचर एव सावरणसाञ्जन **विकार-कूट** को विश्व

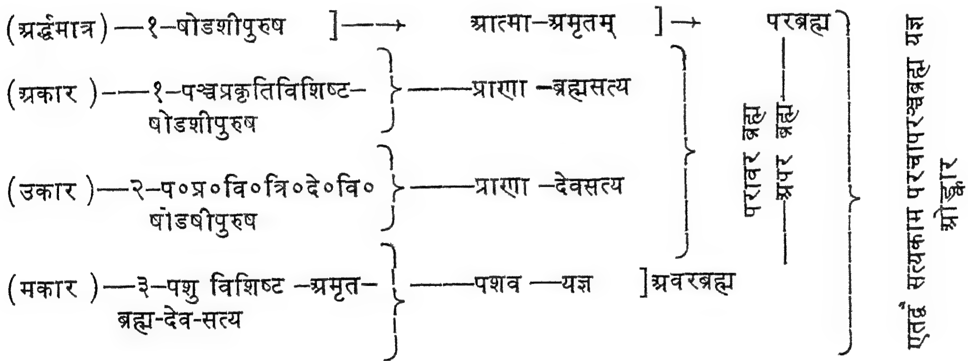
कहा था परन्तु इस प्रकरण मे कुछ और ही कहा जाता है। इसमे परस्पर विरोध का कोई अवसर नही है। मायामय महाविश्व की अपेक्षा से तो परात्पर-अमृतात्मा-विकार सब ही क्रमश. विश्वातीत-विश्वचर-विश्व है परन्तु वैकारिक विश्व की अपेक्षा से क्षर प्रधान कार्यरूप वैकारिक भाव ही विश्व है। उपर्युक्त निरुक्त ब्रह्म के स्वरूप परिचय से पाठको को विदित हुआ होगा कि अव्यय क्षरसम्पत्ति से अनुगृहीत वेद-मूर्त्ति अक्षर-ब्रह्म ही सृष्टिकर्त्ता है। यही सृष्टि का आदि आरम्भक है। बिना अव्यय एव क्षर के सहयोग के अक्षरब्रह्म सृष्टि निर्म्माण मे असमर्थ है अतएव आगे चल कर समष्टिरूप षोडशीप्रजापति को ही सृष्टिकर्त्ता मान लिया जाता है। क्षर का क्षरत्व, अक्षर का अक्षरत्व, अव्यय की प्राण एव वाक् कला पर निर्भर है। अव्यय के प्राण-भाग से अक्षर मे कर्तृत्व शक्ति का विकास होता है। अव्यय के वाक्-भाग से क्षर मे उपादान-भाव का उदय होता है, इसीलिए **"प्रभवः प्रलय स्थान निधानं बीजमव्ययम"** के अनुसार अव्यय को सर्वेसर्वा मान लिया गया है। सृष्टि निर्म्माण कामना से वही अपने आपको अक्षर द्वारा **त्रयीब्रह्म, सुब्रह्म** भेद से दो भागो मे विभक्त कर डालता है। जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जाएगा। ब्रह्मापेक्षया अव्ययानुगृहित वही अक्षर त्रयीब्रह्म है। विष्णु की अपेक्षा से वही अक्षर सुब्रह्म है। त्रयीब्रह्म **सत्याग्नि** है। यही **पुरुष** है। सुब्रह्म **ऋतसोम** है। यही स्त्री है। दोनो के याज्ञिक समन्वय मे सारी सृष्टिएँ होती है। इसी त्रिश्वेश्वर विश्वविशिष्ट षोडशी प्रजापति का स्वरूप बतलाती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

यस्मादन्यो न परोऽस्ति जातो य आबभूव भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषिसचते सषोडशी॥ (यजुर्वेद)

उक्त मन्त्र के तीन पाद तो क्रमश विश्वातीत अव्यय, विश्वचर अक्षर, विश्वरूपक्षर का निरूपण करते है एव चतुर्थ पाद समष्टिरूप प्रजापति का निरूपण करता है। **"पर"** अव्यय का प्रातिस्विक नाम है। **"जिससे अन्य कोई दूसरा पर (अव्यय) आज तक प्रकट नही "हुआ" यह वाक्य विश्वातीत अव्यय का समर्थक है। 'जो भुवनो मे प्रविष्ट हो गया, सर्वत्र व्याप्त हो गया" यह वाक्य विश्वचर अक्षर का उपोद्बलक है। "वह प्रजापति अपनी (विश्वरूप) प्रजा से सयुक्त हो रहा है" यह वाक्य विश्वमूर्त्तिक्षर का अनुग्राहक है एव "तीन ज्योतियो से (अव्यय-अक्षर-क्षर से) वह षोडशी सर्वत्र व्याप्त हो रहा है"** यह वाक्य समष्टि रूप से षोडशी प्रजापति का अभिभावक बन रहा है। स्वय परात्पर **"ज्योतिषा ज्योति."** है। वह अनिर्वचनीय है, अतएव उसका दिग्दर्शन स्वतन्त्र रूप से न करा कर "सचते स षोडशी" इस प्रकार समष्टि रूप से ही करा दिया है।

"आत्म-प्राण पशूनामेकत्रसमवेतत्त्व प्रजापतित्वम्" प्रजापति का यही लक्षण है। दूसरे शब्दो मे **आत्मप्राणपशुत्व** ही प्रजापति शब्द का अवच्छेदक है। आत्मा **उक्थ** है, प्राण **अर्क** है, पशु **अशिति (अन्न)**

है। अथवा प्रकारान्तर से प्रजापति का निर्वचन कीजिए। **"अमृत-सत्य-यज्ञसंस्थात्वं प्रजापतित्वम्"** के अनुसार अमृत-सत्य-यज्ञ तीन सस्थाओ की समष्टि प्रजापति है। समष्टि आत्मा है, व्यष्टि अमृतसत्ययज्ञ है। बहिरग प्रकृति से असस्पृष्ट किन्तु अन्तरग प्रकृतियुक्त शुद्ध षोडशीपुरुष **अमृत** है। दूमरे शब्दो मे **क्षराक्षर** गर्भित परात्पर प्रतिष्ठ उक्थरूप अव्ययपुरुष अमृत है। **प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नाद** नाम से प्रसिद्ध पञ्चप्राण, ३३ देवता **अर्क** है। इन पाँचो अर्को से युक्त वही अमृततत्त्व **सत्य** नाम से व्यवहृत होने लगता है। यह अर्कप्राण पञ्च **प्रकृति**, एव स्तौम्य देवता रूप **विकृति** भेद से दो भागो मे विभक्त है। प्राण–आप–वागादि पञ्चप्रकृतिसमष्टि **"ब्रह्मसत्य"** है। स्तौम्य त्रिलोकी मे प्रतिष्ठित **अग्नि-वायु-इन्द्र** कृत आत्मा **वैश्वानर**–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञमूर्त्ति त्रैलोक्याधिष्ठाता तत्त्व **"देवसत्य"** है। देवत्रयी रूप **देवसत्य** पञ्चब्रह्मरूप **ब्रह्मसत्य** पर प्रतिष्ठित है। पञ्चप्रकृतिरूप ब्रह्मसत्यविशिष्ट देवसत्य उपनिषदो मे जहाँ "अपरब्रह्म" नाम से व्यवहृत हुआ है, वहाँ ब्रह्मदेवसत्य-गर्भित अमृतात्मा **"परब्रह्म"** नाम से प्रसिद्ध है। यही परब्रह्म **"ओङ्कार"** है, जिसका कि दिग्दर्शन पूर्व की **प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्** मे कराया जा चुका है। अस्मदादि पशुओ से युक्त हो कर वही तत्त्व **"यज्ञ"** कहलाने लगता है।



1—{ १—पुरुषात्मा——आत्मा—उक्थम् }—क्षराक्षरगर्भितऽव्ययपुरुष

2—{ १—ब्रह्मसत्यात्मा—प्राण——अर्क
२—देवसत्यात्मा—प्राण——अर्क }—अव्ययक्षरगर्भितोऽक्षरपुरुष

3—{ ३—यज्ञात्मा——प्रशव——अशिति }—अव्ययाक्षरगर्भित क्षरपुरुष

अक्षरप्रधान कारणरूप प्रकृतिभाव ही विश्वचर है, एव अव्ययप्रधान कार्यकारणातीत **पुरुषभाव** ही विश्वातीत है। परात्पर की विश्वातीतता विश्वसीमा से सम्बन्ध रखती है, मायी अव्यय पुरुष की विश्वातीतता असगभाव से सम्बन्ध रखती है। दूसरे शब्दो मे विश्व मे प्रविष्ट रहता हुआ भी अव्यय पाप्माओं से सर्वथा निर्लिप्त रहता है—**"न करोति न लिप्यते"**, अत इसे विश्वातीत कहा जाता है। केवल माया-बल ही विश्वातीत परात्पर एव विश्वप्रविष्ट अव्यय का व्यवच्छेदक है। अन्यथा दोनो एक वस्तु है। अमृतात्मा का विश्वचरत्व सर्वव्याप्ति भाव से सम्बन्ध रखता है, केवल अक्षर का विश्वचरत्व कारणता से सम्बन्ध रखता है। अक्षर ही विश्व का आत्मा है। वैज्ञानिको ने आत्मा का—**"यस्य यदुक्थं सत्, ब्रह्म सत् साम स्यात् स तस्यात्मा"** यह लक्षण किया है। मिट्टी घट का **उक्थ** (प्रभव) है। मिट्टी से उत्पन्न घट मिट्टी पर ही प्रतिष्ठित रहता है, अत मिट्टी ही घट का **ब्रह्म** (आलम्बन) है, एव अन्ततोगत्वा घट मिट्टी मे ही विलीन हो जाता है अत मिट्टी ही घट का **साम** (अवसान–भूमि–परायण) है अतएव उक्थ ब्रह्मसामलक्षण मिट्टी ही घट का आत्मा है। इसी प्रकार **'तयाऽऽक्षरा द्विविधा सौम्यभावा प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति' "अव्यक्ताद्व्यक्तय सर्वा प्रभवन्त्यहरागमे। रात्र्यागमे प्रतीयन्ते तत्रैवाव्यक्त संज्ञके" "मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्त मूर्त्तिना"** "सूयते स चराचरम्" **"अव्यक्तादीनिभूतानि व्यक्त मध्यानि भारत। अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवना" "प्रकृति. कर्त्री. पुरुषस्तुपुष्करपलाशवन्निर्लेपः"** इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त प्रमाणो के अनुसार प्रकृति नाम से प्रसिद्ध अव्यक्त ही अपने मर्त्य भाग से विश्व का उक्थ—**ब्रह्म-साम** बनता हुआ विश्वात्मा किवा विश्वचर है। तीसरे विश्व विवर्त्त मे दोनो पक्ष समान है।

प्रकारान्तर से सृष्टि के विवर्त्त-भाव की समतुलित विचित्रता देखिए। निष्फल अव्ययात्मा ही प्रधान आत्मा है। यही सृष्टि विवर्त्तसमतुलन वेद रूप मे परिणत हो कर पितर-प्राण का उपादान बनता है। इस उपादानता के लिए आत्मा को अनेक रूप धारण करने पडते है। आत्मा के वे विविध रूप कौन से है जिनके आधार पर असङ्ग आत्मा को ससङ्ग पितरो का उपादान बनना पडता है ? यह बिचारणीय है। सबसे पहिला आत्मरूप "श्वावेसीयसमन" है। यही बल तारतम्य से आरम्भ मे **आनन्द–विज्ञान–प्राण–वाक्** इन चार चितियो से युक्त होता है, जैसा कि **आत्मविज्ञानोपनिषत्** की अमृतात्मविज्ञानोपनिषत् मे विस्तार से बतलाया जा चुका है। इन पाँच कलाओ मे से आनन्द-विज्ञान का एक विभाग है, यही **विद्यात्मा** है। प्राण-वाक् का एक स्वतन्त्र भाग है, यही कर्म्मात्मा है। मध्यस्थ मन कामात्मा बनता हुआ दोनो का भागीदार है। इस पक्ष मे मन प्रधान आलम्बन है, इसके एक ओर आनन्द-विज्ञान चित है एक ओर प्राणवाक् चित है। अथवा आनन्द को सर्वान्तरतम मानिए। आनन्द मूल कला है। इस पर पहिले क्रमश विज्ञान मन का चयन है, मन पर क्रमश प्राणवाक् का चयन है। तैत्तिरीय उपनिषत् ने कोशब्रह्म का निरूपण करते हुए इसी क्रम को प्रधान माना है। पञ्चकल इस अव्ययात्मा से बल सम्बन्ध से पञ्चकल अक्षर का उदय होता है। आनन्द ब्रह्म की प्रतिष्ठा है, विज्ञान विष्णु की, मन इन्द्र की, प्राण अग्नि की, वाक् सोम की प्रतिष्ठा है। मध्यस्थ इन्द्र के एक ओर ब्रह्मा-विष्णु की, एक ओर अग्नि-सोम की चिति होती है। अथवा ब्रह्मा पर विष्णु-इन्द्र की क्रमश चिति होती है, इन पर अग्नि-सोम की क्रमश. चिति होती है। जैसा एव जो कला-सस्थानक्रम अव्यय का है वैसा ही एव वही क्रम अक्षर का है। अव्ययावच्छिन्न अक्षर से पञ्चकल क्षर का विकास होता है।

आनन्दगर्भितब्रह्मा प्राण की विकास-भूमि है, विज्ञानगर्भितविष्णु आप की, मनोमयइन्द्र वाक् की, प्राणमयअग्नि अन्नाद की, वाङ्मयसोम अन्न की विकास भूमि है। यहाँ भी एक दृष्टि से मध्य मे वाक् है, इस पर एक ओर से प्राण-आप चित है, एक ओर से अन्नाद-अन्न चित है। अथवा प्राण मूल भित्ति है, इस पर आप वाक् क्रमश चित है, इन पर अन्नाद-अन्न क्रमश चित है। अव्यय, मन, अक्षरेन्द्र, क्षर वाक् तीनो अभिन्न है। अव्ययानन्द, अक्षर ब्रह्म, क्षर प्राण तीनो अभिन्न है। अव्यय विज्ञान, अक्षर विष्णु, क्षर आप तीनों अभिन्न है। अव्यय प्राण, अक्षरअग्नि, क्षर अन्नाद तीनो अभिन्न है। अव्यय वाक् अक्षरसोम, क्षरअन्न तीनो अभिन्न है। फलत अव्यय अक्षर-क्षर तीनो एक ही आत्मा के तीन विवर्त्त है। अव्ययात्मा उस एक आत्मा का आलम्बन रूप **पर-ब्रह्म** रूप है। अक्षरात्मा निमित्त कारण भूत **परमब्रह्म** है, क्षरात्मा उपादान कारण भूत महद्ब्रह्म है। निम्नलिखित श्रौत वचन उक्तार्थ का ही स्पष्टीकरण करते है—

अव्ययात्मा {

१—"अन्नाद्वै प्रजा प्रजायन्ते, अन्न हि भूताना ज्येष्ठम्।"———→वाक्

२—"प्राणो हि भूतानामायु तस्मात् सर्वायुषमुच्यते।"———→प्राण

३—"प्राणमयात् अन्योऽन्तर आत्मा मनोमय.।"————→मन.

४—"मनोमयात् अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय।"———→विज्ञानम्

५—विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमय।"———→आनन्द

—※—

अक्षरात्मा {

१—"आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्।"————→ब्रह्मा (आनन्दमय.)

२—"विश्वा भुवनानि वेद" (ऋ०स० ३।४४।१०)→विष्णु (विज्ञानमय)

३—"यन्मन स इन्द्र" (गो०उ० ४।११)———→इन्द्र (मनोमय)

४—"प्राणो वा अग्नि" (श० ६।४।१।६८)——→अग्नि (प्राणमय)

५—"वागितिचन्द्रमा" (जै०उ० ३।१३।१२)——→सोम (वाङ्मय)

—※—

क्षरात्मा —

- १—"प्राण उ वै ब्रह्म" (शत० ८।४।१।३)——————→प्राण (आनन्द ब्रह्ममय)
- २—"आपो वा यज्ञ" (विष्णुः) (शत० ३।१।४।१५)——→आप (विज्ञान विष्णुमय)
- ३—"अथ य इन्द्रस्सा वाक्" (जै०उ० १।३३।२)——————→वाक् (मन इन्द्रमय)
- ४—"अन्नादोऽग्नि." (शत० २।१।४।२८)——————→अन्नाद (प्राणाग्निमय)
- ५—"अन्न वै चन्द्रमा" (तै० ३।२।३।४)——————→अन्नम् (वाक् सोममय)



मन —सर्वालम्बनम् तत्र आनन्दविज्ञानेचिते ← तत्र प्राणवाचौचितौ	१	आनन्द —सर्वालम्बनम् तत्र → विज्ञानमनसी अनुस्यूते तत्र प्राण-वाचौ अनुस्यूतौ
इन्द्र —सर्वालम्बनम् तत्र ब्रह्माविष्णूचितौ ← तत्र अग्नीषोमौ चितौ	२	ब्रह्मा-सर्वालम्बनम् तत्र → इन्द्रविष्णू-अनुस्यूतौ तत्र अग्नीषोमौ अनुस्यूस्तौ
वाक्—सर्वालम्बनम् तत्र अब् प्राणौ चितौ तत्र अन्नान्नादौ चितौ	३	प्राण —सर्वालम्बनम् तत्र अब्वाचौ-अनुस्यूतौ तत्र अन्न।न्नादौ-अनुस्यूतौ

यदिदमव्ययमन ———→यश्चायमिन्द्राक्षर ———→याचेयवाक् क्षरमयी			एक तत्
योऽयमव्ययानन्द ——→योऽयमक्षरब्रह्मा——— →योऽयमक्षरप्राण			एक तत्
यदिदमव्ययविज्ञानम्——→योऽयमक्षरविष्णु ——— — याश्चेमाक्षराप			एक तत्
योऽयमव्ययप्राण ———→योऽयमक्षराग्नि ————→योऽयक्षरान्नाद			एक तत्
योऽयमव्ययवाक्———→योऽयमक्षरसोम — - ———→यदिदक्षरान्नम्			एक तत्
अव्ययात्मापरब्रह्म	अक्षरात्मापरमब्रह्म	क्षरात्मामहद्ब्रह्म	——

पाठको को उक्त आत्मविवर्त्तो से यह विदित हुआ होगा कि **मन-इन्द्र-वाक्** तीनो समान धारा से सम्बन्ध रखते है । मन अव्यय है, इन्द्र अक्षर है, वाक् क्षर है । यही वाक् वेद-त्रयी की मूल प्रतिष्ठा है । इसी आधार पर "वाग्विवृताश्चवेदा" यह कहा जाता है । पोडशीपुरुष वेद रूप मे परिणत होकर ही पितर-प्राण का आरम्भक बनता है जैसा कि अनुपद मे ही स्पष्ट होने वाला है । पितर-प्राण का मूल कौन है? इस प्रश्न का **'वेदावच्छिन्न वेदमूर्त्ति षोडशीपुरुष पितर-प्राण का आरम्भक है'** यही समाधान है। ।

लेखात्मिका पुरविभूति—

विश्वात्मा प्रजापति त्रयीब्रह्म एव सुब्रह्म के समन्वय से ही विश्वनिर्म्माण मे समर्थ होता है, यह कहा जा चुका है । **ऋक्-साम-यजु** तत्त्वो की समष्टि "त्रयीब्रह्म" है । मैथुनी-सृष्टि धारा मे उत्पन्न होने वालो मे सर्वप्रथम यही ब्रह्म प्रकट होता है, अतएव इसे "प्रथमज ब्रह्म" कहा जाता है । (शत० ६।१।१।७) । इस प्रथमज ब्रह्म का ऋक्साम भाग अनावरक है, यजु भाग आवरक है, धामच्छद है, जगह रोकने वाला है । ऋक्साम इस धामच्छद यजु को सीमित कर देते है । सीमा–भाव सम्पादन करने वाला तत्त्व ही "**छादनात्**" व्युत्पत्ति से **छन्द** कहलाता है । ऋग्वेद उक्थ-छन्द है, सामवेद पृष्ठ-छन्द है । तात्पर्य यह है कि वस्तुतत्त्व यजु है । इसका केन्द्र भाग उक्थ है, इसकी सीमा ऋग्वेद से सम्बन्ध रखती है अतएव ऋक् छन्द को उक्थ छन्द कहा जाता है । वस्तु का ऊपरी भाग पृष्ठ है, इसकी सीमा साम से निष्पन्न होती है अतएव सामछन्द को पृष्ठछन्द कहा जाता है । अव्ययक्षरगर्भित अक्षरमूर्त्ति यजुर्ब्रह्म यद्यपि स्वस्वरूप से असीम है, तथापि उक्थ-पृष्ठात्मक ऋक्-साम छन्द से छन्दित होता हुआ यह ससीम बन जाता है। सीमा-भाव एक प्रकार की **लेखा** (रेखा-कार) है । लेखा किवा रेखा ही एक प्रकार का "**पुर**" है । लेखात्मक किंवा छन्दोमय इस पुर से परिगृहीत वह यजुर्ब्रह्म "पुरिशेते" इस निर्वचन से "**पुरुष**" नाम से व्यवहृत होने लगता है । ऋक् "**महदुक्थ**" है, साम "**महाव्रत**" है, यजु "**अग्नि**" है, यही **पुरुष** है । यजुर्ब्रह्म के लेखात्मक इसी पुररूप परिच्छेद का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

"परिवाजपतिः कविः परिस्वाग्ने पुरं वयं त्वमग्ने द्युभिः" (यजु०स०)

"अग्निमेवास्माऽएतदुपस्तुत्य वर्म्म करोति परिवीतिभिः। परीव हि पुरः। आग्नेयीभिः। अग्निपुरामेवास्माऽएतत् करोति। तस्माद् हैतत् पुरां परमं रूपं यत् त्रिपुरम्। स वै वर्षीयसा वर्षीयसा छन्दसा परां परां लेखां वरीयसीं करोति। तस्मात् पुरां परा-परा वरीयसा लेखा भवन्ति। लेखा-हि पुरः।" (शत० ६।३।१।२५)

यजु तत्त्व **"वय"** है, ऋक् साम इस यजु को चारो ओर से वद्ध रखने वाला **"वयोनाध"** है, वय, वयोनाध की समष्टि है। "वयुन"—"सर्वमिद वयुनम्" यह व्यापक सिद्धान्त है। इनमे भी—"ऋक्सामे-यजुरपीत' (शतपथ का० १०) के अनुसार यजु पुरुष ही मुख्य है। इसी विज्ञान के आधार पर "पुरुष एवेद सर्व यद् भूत यच्च भाव्यम्" (यजु स० ३१।१।२) यह कहा गया है।

त्रयीब्रह्म का वैभव— उपर्युक्त त्रयीब्रह्म मे से ऋक्साम को थोडी देर के लिए छोड दीजिए, केवल यजु पुरुष पर दृष्टि डालिए। यत्-जू, इन दो विरुद्ध तत्त्वो का समुचित रूप ही **"यज्जू"** है। गति तत्त्व **'यत्'** है, यही प्राण किवा वायु है। स्थिति तत्त्व **"जू"** है, यही वाक् किवा आकाश है। आकाशात्मिका यही वाक् स्वायभुवी–सत्या–अनादिनिधना–अपौरुषेया वेदमयी वाक् है। इसी से आगे की सम्पूर्ण सृष्टिएँ होती है जैसा कि अनुपद मे ही स्पष्ट होने वाला है। प्राण-वायु रूप 'यत्'—**कं ब्रह्म है**, वाङ्मय आकाशात्मक "जू" **ख ब्रह्म** है। दोनो नित्य अविनाभूत है, दूसरे शब्दो मे तादात्म्यापन्न है। दोनो के इसी तादात्म्य-भाव को लक्ष्य मे रख कर सामश्रुति कहती है—

"प्राणो ब्रह्म। कं ब्रह्म–खं ब्रह्मेति। यद्वाव कं तदेव खम्। यदेव खं, तदेव कम्। प्राणं च हास्मै तदाकाशं चोचुः।" (छा०उ० ४।१०)

प्राणात्मक वायु सत्याग्नि तत्त्व है, आकाशरूपवाक् सोमतत्त्व हे। दोनो की समष्टि **अर्द्धनारीश्वर शिव है।** यही **अग्नीषोमब्रह्म** है। इन दोनो मे से ब्रह्माग्नि रूप प्राण-तत्त्व ही "ऋषि" है। इस ऋषि-प्राण के सम्बन्ध मे—"प्राणा वा ऋषय। ते यदस्मादिदमिच्छन्त श्रमेण तपसा अरिषस्तस्मात्ऋषय." (शत० ६।१।१।१) यह वचन प्रसिद्ध है। ब्रह्मविद्यामयी सोमात्मिका विश्वव्यापिनी वाक् इस ऋषि-प्राण के साथ मन्त्रणा करती है, सयुक्त होती है, अतएव इस वाक् को **"मन्त्र"** कहा जाता है। इस मन्त्रात्मिका वाक् के साथ सर्वप्रथम प्राणरूप इसी ऋषि का सम्बन्ध होता है। इसी विज्ञान के आधार पर **"ऋषयो-मन्त्रद्रष्टारः"** यह कहा जाता है। ऋषि मन्त्रद्रष्टा है इसका यही अभिप्राय है कि असत्-प्राण वाक्-तत्त्व के प्रथम **सम्बन्धी** है। सम्पूर्ण विश्व प्राणमयी, ऋषिमयी मन्त्रवाक् मे ही अन्तर्भूत है—"वाचीमा विश्वा

भुवनान्यर्पिता ।" कही-कही "ऋषिर्वेदमन्त्र" इत्यादि रूप से ऋषि एव मन्त्र को एक ही तत्त्व माना गया है। इसमे विरोध नही समझना चाहिए। दोनो का अविनाभाव (तादात्म्य) ही इस एकत्व प्रतिपादन का मूल है। ऋषि एव मन्त्र रूप 'यज्जू' ही देवताओ की परोक्ष भाषा मे "यजु" नाम से प्रसिद्ध है। जू रूप आकाश धरातल मे प्रतिष्ठित यत् रूप ऋषि नामक **असत्** प्राण ही मौलिक तत्त्व है। इसी से यौगिक पितर-असुरादि तत्त्व उत्पन्न होते है। यत् रूप प्राणवायु कुर्वत् रूप है, क्रियाशील है, नित्य क्षुब्ध है। इसके व्यापार से आकाशात्मिका वाक् का एक प्रदेश अब् रूप मे परिणत होता है। वाक् तत्त्व ह आशिक रूप से द्रुत हो कर पानी बन जाता है। स्वय वाक् तत्त्व सत्य होने से व्याप्ति भाव से रहित था, परन्तु पानी की अवस्था मे आ कर ऋतरूप मे परिणत होता हुआ यही व्याप्तिभाव से युक्त हो जाता है, सबका सवरण कर लेता है, अतएव **"आप्नोत्–अवृणोत्"** इत्यादि निर्वचनो के अनुसार इसे आप–वा. इत्यादि नामो से व्यवहृत किया जाता है। आप्ति लक्षण यह पानी उस सत्य वाक् की ही अवस्थाविशेष है। इसी आधार पर–"सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेव सासृज्यत" (श० ६।१।१) । यह कहा जाता है। यही अपूतत्व **सुब्रह्म** है, यही चौथा **अथर्ववेद** है। गोपथ श्रुति ने इसे ही **"स्वेद" "सुवेद" "सुब्रह्म"** इत्यादि नामो से व्यवहृत किया है (द्रष्टव्य गो ब्रा पू १।१।१)। जिस प्रकार यजुर्ब्रह्म मे यत्–जू (गति–स्थिति) ये दो तत्त्व है एवमेव यह सुब्रह्म भी स्नेह–तेज भेद से दो भागो मे विभक्त है। स्नेह तत्त्व **भृगु** है तेज तत्त्व अङ्गिरा है। स्नेह लक्षण भृगुतत्त्व **सोम** है, तेजो लक्षण अङ्गिरातत्त्व **अग्नि** है। यजुर्ब्रह्म भी अग्निसोममय था, यह सुब्रह्म भी अग्निसोममय है। अन्तर दोनो मे केवल यही है कि यजुरूप अग्नि–सोम गति–स्थिति लक्षण है, एव सुब्रह्मात्मक अग्नि–सोम तेज–स्नेह लक्षण है। स्थिति-गति रूप अग्नि–सोममय यजुर्ब्रह्म से स्नेह–तेज रूप अग्निसोममय सुब्रह्म उत्पन्न होता है। स्नेह लक्षण सोम का स्थिति लक्षण जू भाग से सम्बन्ध है, तेजो लक्षण अग्नि का गति लक्षण यत् भाव से सम्बन्ध है। दूसरे शब्दो मे यो समझिए कि वाक् से उत्पन्न होने वाले अप् तत्त्व मे वागविनाभूत प्राण भी अनुस्यूत रहता है। प्राणाग्नि मे वाक्–सोम है, वाक्–सोम मे प्राणाग्नि है। प्राणाग्नि गर्भित वाक्तत्त्व सोम है। वाक्–सोम गर्भित प्राण अग्नि है। इसी द्वैविध्य से अप्–तत्त्व की दो अवस्थाएँ हो जाती है। प्राणाग्नि गर्भित स्थितिलक्षण वाक् सोम से स्नेहलक्षण भृगु–सोम का विकास होता है, एव वाक्–सोम गर्भित गति लक्षण प्राणाग्नि से तेजोलक्षण अङ्गिरोऽग्नि की उत्पत्ति होती है। पाठको को यह स्मरण रखना चाहिए कि सृष्टि **ससृष्टि** लक्षण है। दो अथवा अनेक तत्त्वो का रासायनिक मिश्रण (जो कि मिश्रण याज्ञिक परिभाषा के अनुसार **चिति सम्बन्ध–अन्तर्यामसम्बन्ध–ग्रन्थिसम्बन्धयाग** इत्यादि नामो से व्यवहृत हुआ है) ही ससृष्टि है। यजुर्ब्रह्म प्राणात्मक है, प्राण प्रधान है। प्राण–तत्त्व सर्वथा असग है। इससे ससृष्टि मूला मैथुनी सृष्टि नही हो सकती। मैथुनी सृष्टि का मूल उपक्रम आपोमय सुब्रह्म ही है। प्रजा-सृष्टि का मूल प्रभव स्नेहतेजोलक्षण यही सुब्रह्म है। यद्यपि त्रयीब्रह्मात्मक यजुर्ब्रह्म मे भी स्नेहलक्षण वाक्-तत्त्व प्रतिष्ठित है, एव सुब्रह्म मे भी तेजोलक्षण अङ्गिरा तत्त्व प्रतिष्ठित है। ऐसी दशा मे यजु को भी वाकपेक्षया ससृष्टि लक्षण माना जा सकता है, एव सुब्रह्म को भी अङ्गिरा की अपेक्षा से असग कहा जा सकता है, तथापि यजु मे यत्–प्राण की ही प्रधानता के कारण, एव सुब्रह्म मे स्नेहलक्षण भृगु की ही प्रधानता के कारण यजु को असग ही माना गया है। प्राण–वाक् दोनो के रहने पर भी असग प्राण की

प्रधानता से यजुर्ब्रह्म प्राणमूर्ति माना गया है। स्नेह–तेज दोनो के रहने पर भी सस्ग ग्राप की प्रधानता से सुब्रह्म को आपोमूर्त्ति ही माना गया है। एक विशेषता और। यजु मे यद्यपि प्राण–वाक् भेद से अग्नि-सोम दोनो है, परन्तु प्रधानता प्राणाग्नि की है, अत यत्–जू रूप (अग्नि–सोम रूप) यजु को केवल अग्नि ही मान लिया गया है। एवमेव सुब्रह्म मे भी यद्यपि अङ्गिरा–भृगु भेद से अग्नि–सोम दोनो है, परन्तु प्रधानता अप् तत्त्व की है, अत. अङ्गिरा भृगु रूप (अग्नि–सोमरूप) सुब्रह्म को केवल सोम रूप ही मान लिया गया है। **यजुर्ब्रह्म ब्रह्माग्नि** है, सत्याग्नि है, पुरुष है। सुब्रह्म सोम है, स्त्री है। इसी आपोमय सुब्रह्म रूप रेत की उस अग्निमय ब्रह्म मे मातरिश्वा❀ द्वारा आहुति होती है। इसी से प्रजोत्पत्ति होती है। कहना यही है कि यजुर्ब्रह्म को (जो कि यजुर्ब्रह्म विज्ञान भाषा मे **स्वयभू** नाम से प्रसिद्ध है) प्रजा–सृष्टि के उपादानभूत शुक्र–सम्पत्ति के लिए सर्वप्रथम इसी अप् तत्त्व को उत्पन्न करना पडता है। इसी विज्ञान को लक्ष्य मे रखकर भगवान मनु कहते है—

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ।। (मनुः)

स्वयम्भू ब्रह्म का शरीर त्रयीमय है। त्रयी के यजुभाग का प्राणगर्भित भाग ही इसका स्वभाग है।

ब्रह्म की स्वात् विभूति— यही पानी बना है, इसी आधार पर "स्वात्" कहा गया है। **"तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशम्"** इस सिद्धान्त के अनुसार त्रयीब्रह्म आपोमय सुब्रह्म को उत्पन्न कर इसमे प्रविष्ट हो जाता है, इसी से **आण्डसृष्टि** का स्वरूप निष्पन्न होता है। प्रत्येक अण्ड (अण्डे) मे गर्भ मे गर्मी रहती है, चारो ओर पानी रहता है। यही स्थिति यहाँ है। गर्भ मे ब्रह्माग्निप्रधान त्रयीब्रह्म है। चारो ओर आपोमय सुब्रह्म व्याप्त है। इसी आधार पर इस ब्रह्मपुर को **ब्रह्माण्ड** (ब्रह्म का अण्डा) कहा जाता है। जैसा कि—**"स त्रय्याविद्यया सहाप प्राविशत् तत आण्डसमवर्तत"** (शत० ६।१।१) इत्यादि वचनो से स्पष्ट है। सृष्टिमूलभूत शुक्रमूर्त्ति स्नेह-तेज लक्षण भृग्वाङ्गिरोमय इसी अप् ब्रह्म का निरूपण करते हुए ऋषि कहते है—

आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वाङ्गिरोमयम् ।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः ।। (अथर्ववेद)

ससृष्टि लक्षण सृष्टब्रह्म (विश्व) मे इन दो के अतिरिक्त तीसरे तत्त्व का अभाव है। इसी अभिप्राय से महर्षि कौषीतकि ने "**द्वय वा इद सर्व स्नेहश्चैव तेजश्च। तदुभयमहोरात्राभ्या व्याप्तम्**" (कौषी० १७।६) यह कहा है।

❀इस विषय का विशद् विवेचन ईषोपनिपद् हिन्दी–विज्ञान–भाष्य, द्वितीय खण्ड के **"अनेजदेकं मनसोजवीय"** इत्यादि मन्त्र व्याख्यान मे देखना चाहिए।

भृगु-अङ्गिरा यही दोनो तत्त्व क्रमश **पितर–देवता** की प्रतिष्ठा है। भार्गव सौम्य प्राण पितृ तत्त्व की प्रतिष्ठा है, आङ्गिरस आग्नेय तत्त्व देवतत्त्व की विकास भूमि है। यजु का वाक् भाग प्रधान रूप से भार्गव प्राण का जनक है, प्राण भाग प्रधान रूप से आङ्गिरस प्राण का प्रवर्त्तक है। दूसरे शब्दो मे अङ्गिरागर्भित भृगु-सोम पितरप्राण का प्रभव है, एव भृगु-गर्भित अङ्गिरोऽग्नि देव-प्राण का जनक है। पितर भृगुप्रधान होते हुए सौम्य है, देवता अङ्गिरा प्रधान बनते हुए आग्नेय है। इसी प्रकार यजु के यत् भाग को हम देव-प्राण की मूल प्रतिष्ठा बतला सकते है, कारण वही तो वाग् द्वारा अन्नात्मक अङ्गिरारूप मे परिणत होता है। एव 'जू' रूप वाक् भाग को पितर-प्राण की मूल प्रतिष्ठा कहा जा सकता है। दूसरे शब्दो मे प्राण-प्रधान वाङ्मय अग्नि देवसृष्टि का कारण है एव वाक्-प्रधान प्राणगर्भित सोम पितृ-सृष्टि का आरम्भक है। प्राण मन के लिए हित है, वाक् उपहिता है। अर्थात् प्राण मन पर साक्षात् रूप से प्रतिष्ठित है, वाक्तत्त्व मन पर परम्परया प्रतिष्ठित है। ऐसी स्थिति मे वाक् की अपेक्षा प्राण का मन के अति सन्निकट रहना स्वत. सिद्ध है। इधर देवता को हमने प्राणमय बतलाया है। यही कारण है कि प्राण-प्रधान देव-तत्त्व को अन्तरात्मा मे प्रतिष्ठित करने के लिए प्रधानरूप से मन का (भाव का) आश्रय लेना पडता है। पितरतत्त्व वाङ्मय है, यह मन से विदूर पडता है, अत इसे आत्मा मे प्रतिष्ठित करने के लिए वाक्-प्रपञ्च (मन्त्रोच्चारणरूपा शब्दवाक्) का आश्रय लेना पडता है। पितर वाक् से प्रसन्न हो जाते है। इसी विज्ञान के आधार पर अभियुक्त कहते है—

पितर प्राण प्रतिष्ठात्मक तत्त्व—

"पितरो वाक्यमिच्छन्ति भावमिच्छन्ति देवताः।"

अब तक के कथन का निष्कर्ष यह हुआ कि षोडशीगर्भित यजुर्ब्रह्म ही वागवच्छेदेन पितरप्राण का जनक है। सीधे शब्दो मे वाङ्मय ऋषि ही पितरो का उपादान है—

१—ऋग्वेद ——→ वयोनाध ——→ केन्द्रानुगतमुक्थच्छन्द }
२—सामवेद ——→ वयोनाध.——→ पृष्ठानुगत पृष्ठ छन्द } —छन्दसी
३—यत्वेद.——→ वय ——→ गतिलक्षणोवायु –प्राण }
४—जू-वेद ——→ वय ——→ स्थितिलक्षण आकाश –वाक् } —छन्दित वस्तु
} → त्रयी-ब्रह्म

—*—

१—स्नेह लक्षणो भृगु ——→ पितृप्राणप्रवर्त्तक }
२—तेजोलक्षणोऽङ्गिरा——→ देवप्राणप्रवर्त्तक } आपः——→सुब्रह्म (अथर्ववेद)

१—ऋक्—उक्थच्छन्द } ——————→ आधार
२—साम—पृष्ठच्छन्दः

३—यत्—अग्नि (गतिलक्षणोवेदाग्नि·)——————→ ऋषि·
४—जूः—सोम (स्थितिलक्षणोवेद सोम·)——————→ मन्त्र } ——————→ आधेयाः
५—भृगुः—पितृसोम (पितरप्राणप्रवर्त्तक स्नेहलक्षण)——→ पितर
६—अङ्गिराः—देवाग्नि (देवप्राणतेजोलक्षण)——————→ देवा

यजुर्ब्रह्म से उत्पन्न अब्ब्रह्म के भृगुअङ्गिरा दो विवर्त्त बतलाए है। यह दोनो तत्त्व अवस्थाभेद से तीन-तीन भागो मे विभक्त हो जाते है। भृगु की घन–तरल–विरल अवस्थाएँ क्रमश **आप–वायु–सोम** इन नामो से व्यवहृत है, एव अङ्गिरा की तीनो अवस्थाएँ क्रमश अग्नि–यम–आदित्य इन नामो से प्रसिद्ध है। इस प्रकार आपोमय सुब्रह्म की ६ अवस्थाएँ हो जाती है। इन छओ मे से आप्यप्राण ९९ भागो मे विभक्त है, यही नवतीर्नव असुर है। वायव्य प्राण २७ भागो मे विभक्त है, यही **सप्तविंशति-गन्धर्व** है। सौम्यप्राण ८ भागो मे विभक्त है। यही अग्निष्वात्तादि आठ **पितर** है। इस सौम्यप्राण पर आप्य असुरप्राण का निरन्तर आक्रमण होता रहता है। परन्तु मध्यस्थ वायव्यप्राण इस आक्रमण को **व्यर्थ** किया करता है। आप्यप्राण वरुण प्रधान है। "यद्वै वातो नाभिवाति तत् सर्व वरुणदैवत्यम्" इस **श्रौत सिद्धान्त** के अनुसार जिस वस्तु के साथ वायु का सम्बन्ध नही होता रहता वहाँ आप्यप्राणप्रधान वरुणप्राण का प्रवेश हो जाता है। कारण इसका यही है कि वायु मे चतुर्थांश इन्द्र रहता है, पानी मे वरुण रहता है। वरुण और इन्द्र मे अश्वमाहिष्य वैर (सहजवैर) है। फलत· वायु के न रहने पर इन्द्र के अभाव से वरुण को प्रविष्ट होने का अवसर मिल जाता है। वह वस्तु सडने लगती है। थोडी देर के लिए उस वस्तु को खुली हवा मे रख दीजिए, यदि वरुण उस वस्तु मे अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रविष्ट नही हुआ है तो इन्द्राक्रमण से वरुण पलायित हो जाएगा। वस्तुगत पवित्र सोमतत्त्व विकसित हो जायगा। सारा दोष नष्ट हो जायगा। पदार्थ को दुर्गन्ध से बचाना, उसे स्वस्वरूप से सुरक्षित रखना पारमेष्ठ्य **ब्रह्मणस्पति** सोम का अन्यतम कर्म्म है। पवित्र सोम के इसी पावक धर्म्म का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

पितृलक्षण पवित्र सोम—

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो समश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समासत ॥
(ऋक् सहिता ९।८३।१)

इस विशाल अन्तरिक्षरूप समुद्र मे सर्वत्र आप्य-असुर-प्राण भरा हुआ है। वह पदार्थगतसोम को नष्ट कर उसे दूषित करने की चेष्टा किया करता है, परन्तु वायव्यप्राण इसकी चेष्टा को व्यर्थ किया करता है। यही कारण है कि जब तक शरीर मे वायव्ययप्राण (श्वास-प्रश्वास) का सचार रहता है तब तक शरीर पवित्र रहता है, इसमे वारुण दुर्गन्ध का प्रवेश नही हो पाता परन्तु जब वायव्य प्राण उत्क्रान्त हो जाता है तो आप्यवरुणप्राण को आक्रमण करने का अवसर मिल जाता है। इस आक्रमण से शरीरस्थ सोम नष्ट हो जाता है, फलत थोडे दिन पीछे ही सम्पूर्ण शरीर सडने लगता है। बतलाना यही है कि अप एव सोम के मध्य मे प्रतिष्ठित गन्धर्व नाम से प्रसिद्ध वायव्यप्राण ही सोमतत्त्व को स्वस्वरूप मे सुरक्षित रखता है इसी आधार पर गन्धर्व सोम-रक्षक कहा जाता है। (द्रष्टव्य शतपथ ३।६।२।६)। इस प्रकार एक ही भृगु अवस्था भेद से **अप्-वायु-सोम** द्वारा क्रमश **असुर—गन्धर्व—पितर** इन तीन विजातीय प्राणो का प्रवर्त्तक बन जाता है।

भृगु द्वारा विजातीय प्राण-प्रवृत्ति—

इसी प्रकार एक ही अङ्गिरोऽग्नि पहिले **अग्नि—वायु—आदित्य** इन तीन अवस्थाओ मे परिणत हो जाता है। यही आठ वसु है। तरलावस्थापन्न वायु तरलता के तारतम्य से ग्यारह अवान्तर अवस्थाओ मे परिणत हो जाता है। यही ११ रुद्र है। विरलावस्थापन्न आदित्य विरलता के तारतम्य से बारह अवस्थाओ मे परिणत हो जाता है। यही १२ आदित्य है। इन तीनो मे दो सान्ध्यप्राणो का उदय और होता है। इस प्रकार ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, २ सान्ध्यप्राण सम्भूय एक ही अङ्गिरोऽग्नि के ३३ भेद हो जाते है। यही सुप्रसिद्ध **त्रयस्त्रिशत् यज्ञिय देवता** है। असुर सख्या मे तिगुने (६६) है, अतएव देवासुरमय विश्व मे **दिव्य विभूति** अल्प मात्रा मे उपलब्ध होती है **आसुरी विभूति** प्रभूत मात्रा मे उपलब्ध होती है, दोनो की प्रतिस्पर्धा मे प्राय देवबल परास्त हो जाता है।

अङ्गिरा के ३३ विवर्त्त—

यद्यपि पूर्व कथनानुसार बीजरूप से देव-प्राण की उत्पत्ति आपोमय सुब्रह्म मण्डल (परमेष्ठी मण्डल) मे ही हो जाती है, परन्तु इसका ज्योतिभाव से पूर्ण विकास सूर्य्य मे ही होता है। इस स्थिति से सौम्य-पितरप्राण इस आग्नेय देव-प्राण का जनक बन जाता है। कारण स्पष्ट है। देवता ज्योतिर्म्मय (प्रकाश-स्वरूप) है। इस ज्योति का अन्यतम अधिष्ठाता पितृप्राणमूर्त्ति पारमेष्ठ्य सोम ही है। **"त्व ज्योतिषा वितमोववर्थ" "अदधात् सूर्ये ज्योतिरिन्दु"** इत्यादि मन्त्र प्रमाणो के अनुसार दाह्यसोम ही दाहक सौराग्नि मे आहुत होकर ज्योतिर्म्मय देवताओ का उपादान बनता है। ऐसी अवस्था मे हम कह सकते है कि **ऋषि से पितर उत्पन्न होते है, एव पितरो से देवता उत्पन्न होते है एवं पितरगर्भित देवताओ से विश्व निर्म्माण होता है।** भगवान् मनु ने भी इसी क्रम को प्रधानता दी है।

प्रकरण के प्रारम्भ मे कहा जा चुका है कि मैथुनी सृष्टि ही वास्तव मे ससृष्टिलक्षण सृष्टि है। इस सृष्टि का मूल प्रवर्त्तक प्राण सौम्यप्राण ही है। सम्पूर्ण प्रजा का मूल यही है। सौम्य-प्राण के इसी सर्वप्रभवत्व को लक्ष्य मे रख कर महर्षियो ने इसे "पितर" शब्द से सम्बोधित किया है। पूर्व कथनानुसार **ऋक्साम वयोनाध** है। यजुर्ब्रह्म यत्-जू भेद से द्विब्रह्म है। इस प्रकार त्रयी-ब्रह्म यत्-जू के कारण चतुर्धा विभक्त हो जाता है। उधर **षड्ब्रह्म षट्कल है।** चतुष्कल त्रयीब्रह्म **अग्नि** है। षट्कल सुब्रह्म सोम है, नारी है। **समष्टि दशकल विराट् पुरुष** है। दूसरे शब्दो मे **चतुष्कल पुरुष षट्कल स्त्री के समन्वय से ही विराट् पुरुष का स्वरूप सम्पन्न होता है**—

दाम्पत्य भावमूलक विराट्-पुरुष—

विराट्-पुरुष—

१—ऋक्–उक्थछन्द . ..

२—साम–पृष्ठछन्द .....

—**—

३—यत्–प्राण (मौलिकवेदाग्निर्देवप्राणप्रवर्त्तको गतिशीलोऋषिनामाख्य)

४—जू–वाक् (प्रतिष्ठासोम पितृप्राणप्रवर्त्तकः स्थितिशीलोमन्त्रनामाख्य)

—**—

५—आप—असुरप्रवर्त्तका.
६—वायु,—गन्धर्वप्रवर्त्तक
७—सोम.—पितृप्रवर्त्तक
} →स्नेहलक्षणो भृगु

—**—

८—अग्नि—वसुप्रवर्त्तक
९—यम—रुद्रप्रवर्त्तक
१०—आदित्य—आदित्यप्रवर्त्तक
} →तेजोलक्षणोऽङ्गिरा

(स्नेहलक्षणो भृगु + तेजोलक्षणोऽङ्गिरा) ———→ सुब्रह्म



अमृत–सत्य–यज्ञ त्रयी-मीमोसा—

प्रकरण के आरम्भ मे हमने निरुक्त ब्रह्म की **अमृत–सत्य–यज्ञ** इन तीन संस्थाओ का दिग्दर्शन कराया है एव वही यह भी कहा गया है कि उक्त तीनो कलाओ मे से मध्य की सत्यकला **ब्रह्म** एव **देव** भेद से दो भागो मे विभक्त है। इन तीनो **ब्रह्मसत्य–देवसत्य–यज्ञात्माओं** का पूर्व प्रतिपादित **त्रयी-ब्रह्म-सुब्रह्म** के साथ ही सम्बन्ध समझना चाहिए। ऋक्सामावच्छिन्न अग्निसोममूर्त्ति (वेदाग्नि एव प्रतिष्ठा-लक्षण सोममूर्त्ति) यजुर्ब्रह्म **ब्रह्मसत्य** है एव अग्निसोममूर्त्ति भृग्वङ्गिरोमय स्नेहतेजोमूर्त्ति सुब्रह्म **देवसत्य** है। शुद्ध आत्मतत्त्व इन दोनो सत्यो से पृथक् है, उसे ही हमने "**अमृत**" शब्द से व्यवहृत किया है। आत्मतत्त्व के **ब्रह्म-देव** भेद भिन्न इन्ही दोनो मीमास्य भावो को लक्ष्य मे रख कर तलवकार श्रुति कहती है—

"यदस्य (विशुद्धात्मनः) त्वं (ब्रह्मसत्य भागः) यदस्य च देवेषु (देवसत्ये) मीमांस्यमेव मन्ये विदितम्" (के० २।१)

सत्य के अतिरिक्त यज्ञ भाग और है, यह पाञ्चभौतिकप्रपञ्च की प्रतिष्ठा है। इस प्रकार आधि-दैविकसस्थाधिष्ठाता विश्वव्यापक विश्वात्मा विश्वचर **ईश्वर प्रजापति मे अमृत–ब्रह्म–देव–यज्ञ** इन **चार कलाओ की सत्ता** सिद्ध हो जाती है। जीव-प्रजापति इसी का अश है। सुतरा इसमे भी चारो की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इन चारो मे से अमृततत्त्व सदा एकरस रहता है। वह सर्वत्र समान है, कृमि, कीट, विष्ठा, ऋषि, पितर सब मे समान रूप से व्याप्त है। वह सर्वथा असस्करणीय एव स्वत' सस्कृत है। उस पर शुभाशुभ कर्म्म का कोई लेप नही होता। उसके लिए कोई सस्कार अपेक्षित नही है। बाकी बचे हुए **ब्रह्म–देव–यज्ञ** तीनो के अश जीवात्मा के प्रज्ञापराध से जीव सस्था मे आकर दूषित बन जाते है।

संस्कार्य्य विश्वविवर्त्त—

"गुणदोषमय सर्व स्रष्टा सृजति कौतुकी" इस सर्वसम्मत सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति से उत्पन्न वस्तुमात्र दोषाक्रान्त रहती है। इस दोष भाव के कारण वस्तुस्वरूप अपनी गुण सम्पत्ति से हीन प्राय रहता है। यही हीनता तत्तत् वस्तु के अतिशया भाव (विकास भाव) की बाधिका है। इस प्रकार **दोष**(१), **दोषजनितहीनता**(२), **हीनताप्रयुक्त अतिशया भाव**(३), इन तीन भावो से प्राकृतिक पदार्थ नित्य आक्रान्त रहता है। अध्यात्म सस्था मे रहने वाली इन्ही तीनो विप्रतिपत्तियो को हटाने के लिए क्रमश **दोषमार्जन**(१), **हीनाङ्गपूर्त्ति**(२), **अतिशयाधान**(३) लक्षण तीन प्रकार के सस्कार किए जाते है। दूसरे शब्दो मे एक ही सस्कार के ये तीन अवयव है। उदाहरण के लिए कार्पास (कपास) तीनो से युक्त है। इसके बिनौले निकाल कर शुद्ध तूल (रूई) रूप मे परिणत कर देना पहिला दोषमार्ज्जन सस्कार है। तूल को वस्त्र रूप मे परिणत कर देना अतिशयाधान है, एव घुण्डी बटन वगैरह लगाना हीनाङ्गपूर्त्ति है। निदर्शन मात्र है। वस्तुमात्र को उपयोग मे लाने के लिए उक्त तीनो सस्कार परम अपेक्षित है। अध्यात्म मे **ब्रह्म–देव–सत्य** ये तीन कलाएँ बतलाई है। तीनो का ही सस्कार

अपेक्षित है। फलत आध्यात्मिक सस्कार तीन भागो मे विभक्त हो जाते है। यज्ञात्मक शरीर स्थूल भूतो की शुद्धि के लिए **स्नान–उबटन** तैलमर्द्दन आदि जो लौकिक सस्कार किए जाते है, वे सब भूत सस्कार है। इनसे यज्ञमय स्थूल शरीर सस्कृत बनता है। ८ गर्भ सस्कार, ८ अनुव्रत सस्कार, ये १६ ब्राह्म सस्कार है। इनसे कारण-शरीर स्थानीय ब्रह्म-सत्य भाग सुसस्कृत बनता है। ये सोलहो सस्कार **स्मार्त्त** है। इनके अतिरिक्त **सप्तपाकयज्ञ, सप्तहविर्यज्ञ, सप्तसोमयज्ञ** इत्यादि ३२ सस्कार–**दैवसस्कार** है। इन से सूक्ष्मशरीर-स्थानीय देवसत्य भाग सुसस्कृत बनता है। ये ३२ सस्कार **श्रौतसंस्कार** कहलाते है। ब्रह्मसत्य, कारणशरीर की, देवसत्य सूक्ष्मशरीर की एव यज्ञतत्त्व स्थूलशरीर की मूलप्रतिष्ठा है। श्रौत-ब्राह्म-सस्कार, स्मार्त्त-दैव-सस्कार लौकिक भूत-सस्कार इन त्रिविध सस्कारो से द्विजाति का स्वरूप विकसित होता है। बिना इन सस्कारो के द्विज, **द्विजबन्धु** है। और तो और भगवान व्यास तो इन द्विजबन्धुओ को वेदाध्ययन का अधिकार भी नही देते। उधर सस्कारो से सस्कृत द्विज की साक्षात् ब्रह्म से तुलना करते हुए अभियुक्त कहते है—

संस्कारैः संस्कृतः पूर्वैरुत्तरैरपि संस्कृतः।
नित्यमष्टगुणैर्युक्तो ब्राह्मणो ब्रह्मलौकिकम्।
ब्राह्मं पदमवाप्नोति यस्मान्नच्यवते पुनः॥—(शङ्खस्मृतिः)

१—अमृतात्मा—सर्वथाविशुद्ध सस्कार मर्य्यादियाविरहित सर्वत्र सम।

२—ब्रह्मसत्यात्मा—कारणशरीरमनोमयम्→द्विब्रह्म—ब्राह्मसस्कारा स्मार्त्ता—१६

३—देवसत्यात्मा—सूक्ष्मशरीरप्राणमयम्→षड्ब्रह्म—दैवसस्कारा श्रौता —३२

४—यज्ञात्मा—स्थूलशरीरवाङ्मयम्→उभयो समष्टि भूतसस्कारलौकिका

ऋषि–पितृ–देव वर्गत्रयी—

ब्रह्मसत्यात्मा यजुर्म्मय है एव यही यत्रूप ब्रह्मप्राण **ऋषि** है। देवसत्य मे भृगुअङ्गिरा भेद से **पितर देवता** इन दोनो का समावेश है। इस प्रकार अध्यात्मसस्था के प्रति **ऋषि–पितर–देवता** इन तीनो की उपादान कारणता सिद्ध हो जाती है। उत्पन्न होने वाले प्राणीमात्र आधिदैविकमण्डलस्थ उक्त तीनो प्राणो के अशो को ले कर ही उत्पन्न होते है। जब तक वे इन प्राकृतिक तत्त्वो को अपना उपादान नही बना लेते तब तक उनकी उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है। उत्पन्न होने के अनन्तर भी तत्तत् विशेष कर्म्मो द्वारा जीवात्मा (केवल मनुष्य) ऋष्यादि मात्राओ को आत्मसात् कर सकता है। परन्तु उत्पन्न होने के लिए पहिले उपर्य्युक्त तत्त्वो का ऋण लेना आवश्यक हो जाता है। स्वयभू से यह ऋषि-प्राण ले कर ऋषिऋण से ऋणी बनता है, सूर्य्य से देवप्राण लेता हुआ देव–ऋण से ऋणी बनता है एव

पिता के शुक्र द्वारा पारमेष्ठ्य सौम्य प्राणमय पितृप्राण ले कर पितृऋण से ऋणी बनता है । इस प्रकार **ऋषिऋण-देवऋण-पितृऋण** भेद से इन तीन ऋणो का भार हो जाता है । जब तक इन तीन ऋणो का परिशोध नही कर डालता तब तक इसका आत्मा कथमपि मुक्त नही हो सकता । इनके परिशोध के उपाय है **ब्रह्मचर्य्यपूर्वकवेदाध्ययन, यजन**, पुत्रोत्पत्ति । ब्रह्मचर्य्य (ज्ञानचर्य्या–अध्ययनाध्यापन) ऋषि–ऋण का शोधक है । यज्ञकर्म्म देवऋण का परिशोधक है एव पुत्रोत्पत्ति पितृऋण का अपाकरण करती है । जैसा कि आगे आने वाली "**ऋणमोचनोपायोपनिषत्**" मे विस्तार से बतलाया जाने वाला है । इसी ऋण-विज्ञान को लक्ष्य मे रख कर श्रुति कहती है—

"जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण–ऋषिभ्यः, यज्ञेन-देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्यः । एष वा अनृणी यः पुत्री, यज्वा, ब्रह्मचारी च"

इस श्रुति मे ब्राह्मण शब्द चारो वर्णो का उपलक्षण है । हाँ, चारो के ब्रह्म यज्ञ प्रजा. मे अन्तर है । उदाहरण के लिए शूद्र को ही लीजिए । पुराणश्रवण शूद्र का ब्रह्मचर्य्य है, द्विजाति सेवा शूद्र का यज्ञ है, प्रजोत्पत्ति मे समानता है—

ब्राह्म–जगत्—

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्व ब्राह्ममिदं जगत् ।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्म्मभिर्वर्णतां गतम् ।।—(महाभारत)

इस व्याससिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण विश्व ब्राह्म है । ब्राह्मण ही इतर तीनो वर्णो की योनि है । आगे जा कर तत्तदाधिकारिक कर्म्मविशेषो की सिद्धि के लिए, एव तत्तत् सस्कारो की सिद्धि के लिए ऋषियो ने स्वत सिद्ध वर्णव्यवस्था का नियमन किया है । ब्राह्मण वर्ण सबका मूल है । इसी अभिप्राय से उक्त श्रुति ने द्विजाति के स्थान मे केवल ब्राह्मण शब्द के उल्लेख करने मे कोई हानि नही समझी है ।

उक्त सन्दर्भ से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि **पितृतत्त्व परमेष्ठीलोक से उत्पन्न हुआ । ऋषिप्राण इन पितरों के पितर** (जनक) **है । दूसरे शब्दो मे पितरो के देवता ऋषि है : सृष्टिकामना से होने वाला विक्षोभ ही इनकी उत्पत्ति का द्वार है एवं मैथुनी सृष्टि उत्पन्न करने के लिए ही यह पितृ-प्राण प्रादुर्भूत हुआ है ।** इस प्रकार उक्त प्रकरण से पितृविषयक आरम्भ के सब प्रश्नो का सक्षेपत समाधान हो जाता है ।

पितरो के पितर कौन है ? यह प्रश्न सरल है परन्तु उत्तर गुहानिहित है । उक्त प्रकरण से इस प्रश्न का सम्यक् समाधान नही होता, इसके लिए अभी विशेष वक्तव्य है । आशा है विषय की दुरूहता को लक्ष्य मे रख कर आवश्यकतानुसार होने वाले पुनरुक्तिदोष को पाठक क्षम्य मानेगे ।

प्राकृतिक पितृप्राण मीमांसा—

अपोमय परमेष्ठि मे **पितरप्राण-देवप्राण** दोनो का विकास होता है, इन दोनो मे पितर-प्राण के देवता **ऋषि** है, दूसरे शब्दो मे पितर प्राण के जनक ऋषि है एव देवप्राण का जनक **पितरप्राण** है, यह पूर्व मे कहा जा चुका है। अब क्रमप्राप्त नित्य प्राकृतिक पितरो का स्वरूप पाठको के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। पितृयज्ञ द्वारा (जो कि यज्ञ ब्राह्मणग्रन्थो मे पिण्ड पितृयज्ञ के नाम से प्रसिद्ध है) जो पितृ-तत्त्व यज्ञकर्त्ता यजमान के शुक्र में प्रतिष्ठित हो कर सन्तानसूत्र को वशपरम्परा रूप से सुरक्षित रखता है, वही पितृ-तत्त्व विज्ञानभाषा मे "सह" नाम से व्यवहृत हुआ है। प्रकृत मे सहोबलरूप, किवा सहोबल प्रदाता उन्ही नित्य प्राकृतिक पितरो का निरूपण अपेक्षित है।

पृथिवीअन्तरिक्षद्यौ भेद से स्तौम्य त्रिलोकी तीन भागो मे विभक्त है जैसा कि "प्राणात्माविज्ञानोपनिषत्" मे विस्तार से बतलाया जा चुका है। लोकत्रय भेद से त्रिधा विभक्त वे नित्य-पितर क्रमशः **पर-मध्यम-अवर** नाम से प्रसिद्ध है। इन्ही तीनो का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

उदीरतामवर उत् परास उन्मध्यमाः पितरः सौम्यासः ।
असु य ईयुरवृकाऋतज्ञास्तेनोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥—(ऋक् स १०।१५।१)

मन्त्रपठित "असु य ईयु" "सौम्यास." "ऋतज्ञा." "हवेषु" इन विशेषणो पर विशेष ध्यान देना चाहिए। पितर सौम्य है, साथ ही मे ऋततत्त्व की पहिचान के कारण "**ऋतज्ञ**" नाम से प्रसिद्ध हैं। सौम्यास" एव "ऋतज्ञा" का तात्पर्य यही है कि **पारमेष्ठ्य भार्गव सोम ही पितृप्राण की आधारभूमि है**। दूसरे शब्दो मे पारमेष्ठ्य सोम-प्राण ही पितर है। यह पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व—

ऋतमेव परमेष्ठि ऋतं नात्येति किञ्चन ।
ऋते समुद्र आहित ऋते भूमिरियंश्रिता ॥ (तै० स० १।५।५।१)

इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार ऋत है। सौम्य प्राण ऋत प्रधान है अतएव इसे "ऋतज्ञ" कहना अन्वर्थ होता है। प्रकारान्तर से यो समझिए। अङ्गिराप्रधान देवता सत्यमूर्ति अग्नि के सम्बन्ध से जैसे "सत्यसहिता' कहलाते है एवमेव भृगुप्रधान पितर ऋतमूर्ति सोम के सम्बन्ध से "ऋतसहिता" कहला सकते है। मन्त्र ने पितर को प्राणप्रद कहा है। वास्तव मे बात यथार्थ है। "अन्नमय हि सौम्यमन, आपोमय प्राणस्तेजोमयी वाक् (छा०उ०) इस औपनिषत् सिद्धान्त के अनुसार प्राणतत्त्व की प्रतिष्ठा अप्तत्त्व ही है। प्राण की नग्नता पानी से ही हटती है "आपो वा अनग्नता" सचमुच पानी से प्राण विकसित होता है। स्नान करने से भी प्राणाग्नि प्रज्ज्वलित हो जाता है। भोजन के आरम्भ मे प्राणाचार्यो ने हस्तपादइन्द्रियादि के साथ जल का सम्बन्ध कराना आवश्यक समझा है। अपउपस्पर्श से तत्तत् इन्द्रिय प्राणाग्नि प्रदीप्त हो जाता है। प्राणाग्नि को प्रदीप्त करने के लिए ही धर्म्माचार्यो ने भोजन-यज्ञ के आद्यन्त मे **अमृतोपस्तरण अमृतापिधान रूप** आचमन का विधान किया है। पानी ही प्राण की वर्त्तनी

(पात्री) है बिना पानी के प्राणतत्त्व सचमुच नग्न है, स्वस्वरूप से अप्रतिष्ठित है । इसी प्राण की स्वरूप रक्षा के लिए प्रत्येक दैनिक–मासिक–वार्षिक कर्म्मो मे स्थान-स्थान पर "अप उपस्पृश्य–अप उपस्पृश्य" यह विधान उपलब्ध होता है । "प्राणाग्नय एवैतत् पुरेऽस्मिन् जागर्त्ति" (पिप्पलादोपनिषत्) के अनुसार शरीरगत प्राण अग्निमूर्ति है । अग्नि अन्नाद है । एव अन्न ही अन्नादाग्नि की प्रतिष्ठा है । उधर पितृ–प्राण सौम्य हाने से अन्नाद प्राणाग्नि का अन्न है । जब तक इस सोमरूप पितृतत्त्व का इस प्राणाग्नि के साथ सम्बन्ध रहता है, तभी तक यह प्राण–तत्त्व स्व-स्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है । इस दृष्टि से भी हम सौम्य प्राणात्मक पितर को आग्नेय प्राण का रक्षक मानने के लिए तय्यार है । आपको यह जान कर आश्चर्य होगा कि शास्त्रज्ञान से सर्वथा अपरिचित लौकिक मनुष्य भी अपनी व्यवहार भाषा मे पितृतत्त्व का प्राणाग्नि के साथ सम्बन्ध बतलाया करते हैं । जिस मनुष्य का प्राणाग्नि शिथिल रहता है, वह उदासीन रहता है, आलसी बना रहता है, अकर्म्मण्य बना रहता है । इसका एकमात्र कारण यही है कि प्राण को प्रदीप्त करने वाला इसका पितृप्राण मूर्छित रहता है । ऐसे व्यक्ति के लिए लोक मे "अरे ! यह तो आजकल ऐसा सुस्त हो रहा है, जैसे इसके घर के मर गए हो, **बाप दादे मर गए हों,** यह व्यवहार देखा जाता है । वास्तव मे उक्त व्यक्ति के शुक्र मे प्रतिष्ठित पिता पितामहादि के द्वारा (**श्रद्धा सूत्र के आधार** पर) आया हुआ प्राणप्रद **पितृमूर्ति** सहोभाग प्रतिमूर्च्छित रहता है । सहोमूर्ति–प्राणप्रद–पितर के इसी स्वरूप–धर्म्म को लक्ष्य मे रखकर "असु य ईयु." यह कहा है । सौम्यभाव शान्त है, क्रूरता से रहित है अतएव सौम्य पितरो को "अवका." कहा है । यजुर्वेद के वाक्–भाग से ही पितरो का विकास हुआ है, जैसा कि पूर्व प्रकरण मे विस्तार से बतलाया जा चुका है । वाङ्मय इस पितृप्राण को आत्मसात् करने का एकमात्र उपाय है यथाविधि वाक् प्रयोग । पितृकर्म्म मे आहुति (पिण्ड) भाग गौण है । वाक् भाग (मन्त्रोच्चारण) प्रधान है "**पितरो वाक्यमिच्छन्ति**" पितरो के इसी वाग्धर्म्म को बतलाने के लिए "हवेषु" कहा है ।

पर–मध्यम–अवर पितर

जिस प्रकार प्राणप्रधान देवतत्त्व अग्नि[१]–वायु[२]–आदित्य[३] भेद से तीन भागो मे विभक्त होते हुए क्रमशः पृथिवी[१]–अन्तरिक्ष[२]–द्यौ[३] इन तीन लोको मे प्रतिष्ठित है, एवमेव वाक् प्रधान पितृतत्त्व अवर[१]–मध्यम[२]–पर[३] भेद से तीन भागो मे विभक्त होता हुआ क्रमश **पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ** इन तीनो लोको मे प्रतिष्ठित हो रहा है । यह तीनो पितर, किंवा एक ही पितृ–तत्त्व की तीन अवस्थाएँ क्रमशः प्रेतपितर[१]–ऋतुपितर[२]–दिव्यपितर[३] इन नामो से प्रसिद्ध है । द्युलोक मे प्रतिष्ठित **पर पितर** दिव्यपितर है । द्युलोक स्वर्ग है । स्वर्ग आनन्द प्रधान है अतएव इन स्वर्गीय दिव्यपितरो को "**नान्दीमुख**" दिव्य पितर कहा जाता है । ऋतु–पितर ऋतवायुलोक (अन्तरिक्ष) मे प्रतिष्ठित है । अन्तरिक्ष रूप मध्यलोक मे प्रतिष्ठित अतएव **मध्यम** नाम से प्रसिद्ध यह ऋतुपितर **पार्वणपितर** नाम से प्रसिद्ध है । प्रेतपितर पृथिवीलोक मे प्रतिष्ठित है । पृथिवीलोक आवरण प्रधान होने से दुःख प्रधान है । अवर-लोक स्थानीय अतएव **अवर** नाम से यह प्रेतपितर "**अश्रुमुख**" नाम से प्रख्यात है । पितरप्राण का शरीर

सूक्ष्मभूतो से निष्पन्न होता है। इस पितरयोनि का शास्त्रोक्त अष्टविध देवयोनियो मे अन्तर्भाव है। भूलोकस्थ सूक्ष्मशरीरावच्छिन्न प्रेतपितरो के पैर ऊपर रहते है, मस्तक नीचे रहता है। इसी दुःखावस्था के कारण इन्हे अश्रुमुख कहना चरितार्थ होता है।

१—परा	→दिव्यपितर	→नान्दीमुखा	→दिव्यलोकस्था	(२१ द्यौ)	पितरः सौम्यास
२—मध्यमा	→ऋतुपितर	→पार्वण	→आन्तरिक्ष्या	(१५ अ०)	
३—अवरा	→प्रेतपितर	→अश्रुमुखा	→पार्थिवा	(६ पृ०)	



त्रिविध पितृप्राण की मूल प्रकृति—

उक्त तीनो पितरो की मूल प्रकृतिएँ क्रमशः आदित्य[१]–वायु[२]–अग्नि[३] देवता है। इन तीनो मूल प्रकृतियो के कारण यह पितर सौम्य[१]–याम्य[२]–आग्नेय[३] भेद से तीन भागो मे विभक्त हो जाते है। अग्नि–यम–सोम ये तीन देवता पितृ-तत्त्व के **सहदेवता** कहलाते है। प्रसङ्गोपात्त पहिले इन सह देवताओ का स्वरूप ही पाठको के सम्मुख उपस्थित किया जाता है।

दृश्यमान प्रपञ्च **पुरुष–प्रकृति–विकृति** भेद से तीन भागो मे विभक्त है। समष्टि रूप से, एव व्यष्टि रूप से उभयथा पदार्थमात्र उक्त तीनो भावो से आक्रान्त है। इन तीनो मे पुरुष (षोडशी पुरुष नाम से प्रसिद्ध अमृतात्मा) सर्वालम्बन बनता हुआ सर्वथा असङ्ग है। दूसरे शब्दो मे पुरुष केवल विश्वालम्बन है। प्रकृति विश्व की सञ्चालिका है। "प्रकृते क्रियमाणानि गुणैः कर्म्माणि सर्वश" "मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" (गी० ६।१०) इत्यादि वचन प्रकृति के ही कर्तृत्व भाव का समर्थन करते है। पुरुष-तत्त्व जहाँ **अमृत** नाम से प्रसिद्ध है, वहाँ प्रकृति एव विकृति तत्त्व क्रमश ब्रह्म-शुक्र नाम से व्यवहृत हुए है (द्रष्टव्य कठ०) "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" "जन्माद्यस्य यत" इत्यादि भिक्षु सूत्रो द्वारा जन्म–स्थिति–भग के कारणभूत जिस ब्रह्मतत्त्व का उल्लेख हुआ है, वह यही प्रकृतितत्त्व है। यह प्रकृतिब्रह्म (जिसे कि वाजसनेय ब्राह्मण ने ग्यारहवे काण्ड मे **सर्वब्रह्म** नाम से भी व्यवहृत किया है) प्राण–आप–वाक्–अन्न–अन्नाद भेद से पञ्चधा विभक्त है। यही पाँचो ब्रह्म उक्त मनप्राणवाङ्मयसृष्टिसाक्षी पुरुष (अव्यय) से अनुगृहीत हो कर काम–तप–श्रम इन तीन साधारण सृष्ट्यनुबन्धो के सहयोग से स्व-स्व सृष्टि के प्रवर्त्तक बनते है। इन पाँचो ब्रह्मो मे से प्रकृत मे प्राणब्रह्म (प्राणप्रकृति) ही हमारा प्रधान लक्ष्य है क्यो कि पितर-सृष्टि का मूलारम्भक यही प्राणतत्त्व है जैसा कि प्रकरण के प्रारम्भ मे कहा जा चुका है। इसी प्राणब्रह्म को हमने विशुद्ध प्राणदृष्ट्या **यजुर्ब्रह्म**, ऋक्सामावच्छेदापेक्षया **त्रयीब्रह्म** सर्वोपादानापेक्षया **ब्रह्मसत्य** इत्यादि विविध नामो से व्यवहृत किया है।

ऋषिमूर्त्ति प्राणब्रह्म के मनप्रधान **काम** (कामना), प्राणप्रधान **तप** एव वाक्प्रधान **श्रम** व्यापार से सर्वप्रथम **ऋत–सत्य** नामक दो तत्त्व उत्पन्न होते है। "सहृदय सशरीर सत्यम्" "अहृदयमशरीरऋतम्" **ऋत–सत्य** के यही स्वरूप-लक्षण है। जिस पदार्थ का नियत शरीर हो, साथ ही मे वह सशरीरी पदार्थ अपना स्वतन्त्र केन्द्र रखता हुआ सहृदय हो, वही विज्ञान भाषा मे सत्य कहलाएगा एव जिस पदार्थ का न तो कोई नियत शरीर हो, न उसका कोई स्वतन्त्र हृदय हो, ऐसा अहृदय-अशरीरी पदार्थ "**ऋत**" कहलाएगा। इन दोनो मे ऋत तत्त्व स्वत गतिशील है। स्वय स्वस्वरूप से अप्रतिष्ठित रहता हुआ स्व-प्रतिष्ठा के लिए अन्य प्रतिष्ठा की अपेक्षा रखता है। दूसरा सत्य-तत्त्व स्थितिप्रकृतिक है, यह स्वस्वरूप से गतिशून्य है। गति धर्म्मा अन्य पदार्थ के सयोग से इसमे गति-भाव उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दो मे सत्य-तत्त्व प्रातिस्विक रूप से अविचाली है, उसमे स्वय गति नही है। अन्य की प्रेरणा से इसमे गति-भाव का उदय होता है। उधर ऋत-तत्त्व एकान्तत विचाली ही है। इसमे प्रातिस्विक रूप से स्थिति का अभाव है। अन्य की प्रेरणा से इसमे स्थिति-भाव का उदय होता है। "तत्तु समन्वयात्" इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार गतिस्थितिमूलक ऋतसत्य के समन्वय से ही सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है। उत्पन्न होने वाले प्रत्येक पदार्थ मे ऋतसत्य दोनो का समन्वय है। दूसरे शब्दो मे ऋतसत्य की समन्वितावस्था ही पदार्थ है। यही कारण है कि प्रत्येक पदार्थ मे हमे उक्त दोनो विरुद्ध भाव प्रत्यक्ष रूप में उपलब्ध होते है। प्रति वस्तु परिवर्त्तनशील है, जो स्वरूप पहिले क्षण मे था, अपर क्षण मे उसका अभाव है, जो अवस्था अपर क्षण मे है, तृतीय क्षण मे उसका अभाव है। नदी के धारावेग के समान वस्तु-गत प्रत्यवयव परिवर्त्तनशील है। साथ ही मे "स एवाय" यह स्थिति भी विद्यमान है। प्रत्येक वस्तु बनती हुई बिगड रही है, बिगडती हुई बन रही है, ठहरती हुई चल रही है, चलती हुई ठहरी हुई है। सभूति और विनाश दोनो का एक बिन्दु पर समन्वय है। यही तो ब्रह्म साक्षात्कार हे। अमुक पदार्थ प्रतिष्ठित है, अमुक पदार्थ अप्रतिष्ठित है, इस भेद-मूलक व्यवहार का एकमात्र कारण स्थितिगति भाव का तारतम्य ही समझना चाहिए। वस्तुतस्तु ऐसा कोई प्रतिष्ठित पदार्थ नही है, जिसमे गतिरूपा अप्रतिष्ठा न हो, एव ऐसा कोई अप्रतिष्ठित पदार्थ नही जिसमे स्थितिरूपा प्रतिष्ठा न हो। जिन्हे आप सर्वथा स्थिर समझ रहे है, उन पदार्थो के प्रत्येक अवयव निरन्तर विस्रस्त हो रहे है। समष्टि रूप से स्थिर पदार्थ प्रतिष्ठित है, व्यष्टिरूप से विचाली है। एवमेव जिन्हे आप गतिशील समझ रहे है उनकी प्रतिष्ठा अवश्य ही स्थिति-तत्त्व है। गतितत्त्व क्रिया है, क्रिया क्षणिक है, क्षणस्थायिनी इस क्रिया के सञ्चार के लिए अवश्य ही एक अक्षण स्थिर तत्त्व अपेक्षित है। स्थिति-तत्त्व को अपने मूल मे रखे बिना गति-भाव उपपन्न ही नही हो सकता। शरीर के प्रत्येक अवयव (धातु) निरन्तर विस्रस्त होते रहते है, परन्तु समष्टि रूप से इसमे स्थिति-तत्त्व भी विद्यमान है अतएव आयु के सौ वर्ष तक "स एवाय देवदत्त" इस प्रकार की "**वही**" रूपा प्रत्यभिज्ञा बनी रहती है। एवमेव सर्वथा गतिशील वायु मे भी आप स्थिति के दर्शन कर सकते है। गतिभाव के कारण पदार्थो के उत्पन्न होने पर भी उनका सर्वथा अभाव हो जाय, यह असम्भव है। देशकालरूप भेद से अवश्य ही उसकी स्थिति माननी पडेगी। केवल गतिभाव के कारण ही उन्हे एकान्तत. नास्तिकोटि मे नही रक्खा जा सकता है। गति भी पदार्थ है। पदार्थ का अभाव मानना विज्ञान दृष्टि से असम्भव है। इसी स्थिति भाव को लक्ष्य मे रख कर गीताचार्य कहते है—

ब्रह्म की ऋत–सत्य–सृष्टि—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्व दर्शिभिः ।। (गीता २।१६)

अस्तु इस दार्शनिक विषय को हम अधिक नही बढाना चाहते । परन्तु यह सर्वथा सत्य है कि प्रत्येक पदार्थ मे **अस्ति–नास्ति** (स्थिति-गति) दोनो भावो का समावेश है । सभूति-विनाश दोनो का एकत्र समन्वय है । सम्भूति 'अस्ति-मूला' है, विनाश नास्तिमूला है । "सम्भूति च विनाश च यस्तद्वेदोभय सह" (ई० उ०) यह पूर्ण परीक्षित सिद्धान्त है । इन दोनो तत्त्वो मे से सम्भूतिमूल अस्तित्व की ओर पाठको का ध्यान आकर्षित कराया जाता है ।

सत्ता स्वरूप परिचय—

अस्ति ही प्रतिष्ठा तत्त्व है । नाम–रूप–कर्म्मात्मक पदार्थ के साथ जब तक अस्ति तत्त्व का सम्बन्ध रहता है तभी तक वह स्व स्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है । जिस दिन पदार्थ मे से वह अस्तितत्त्व निकल जाता है उस दिन उसकी पूर्व प्रतिष्ठा उच्छिन्न हो जाती है । यह अस्ति रूप प्रतिष्ठा-तत्त्व सत्ता–विधृति–धृति भेद से तीन भागो मे विभक्त है । प्रत्येक पदार्थ मे इन तीनो अस्तिभावो का समावेश रहता है । वह अस्तिभाव जो पदार्थ का आत्मा बना हुआ है, जिसके रहने से पदार्थ पदार्थ है, जो अस्तिभाव अहमस्मि (मै हूँ) इस व्यवहार की मूल प्रतिष्ठा है, वही अस्तिभाव **"सत्ता"** नाम से व्यवहृत हुआ है । यह **सत्ता भाव** उस सत् पदार्थ का मौलिक तत्त्व है । 'सतोभाव ' ही सत्ता शब्द का निर्वचन है । **'सूर्योऽस्ति'** **"घटोऽस्ति"** **"पृथिव्यास्ति"** **"पुरुषोऽस्ति"** इत्यादि व्यवहार **आत्मप्रतिष्ठालक्षण** इसी सत्ताभाव पर अवलम्बित है ।

विधृति स्वरूप परिचय—

दूसरा है विधृतिरूप अस्तिभाव । "तस्माद्वा एतस्माद्वात्मन आकाश सम्भूत , आकाशाद्वायु , वायोरग्नि अग्नेराप , अद्भ्य पृथिवी पृथिव्या ओषधय " (तै० उ०) इत्यादि श्रुति का तात्पर्य यही है कि आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ । आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से आप (पानी), आप से पृथिवी, पृथिवी से ओषधिएँ उत्पन्न हुई । आत्मा एक अस्ति भाव है । आकाश-वायु अग्नि आदि भेदो से सर्वथा निरस्त यह विशुद्ध सत्ताभाव ही आत्मब्रह्म है । जैसा कि आप्तपुरुष कहते है—

प्रत्यस्ताशेष भेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम् ।
वचसाऽऽत्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम् ।।

यह मौलिक सतात्मक आत्मभाव अपने क्षर-भाग से आकाश-द्रव्य को उत्पन्न कर **"तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार उसमे आधार रूप से प्रविष्ट हो जाता है । क्षर की अपेक्षा से आत्मा भी द्रव्य-गुण-कर्म्ममय है । यह आत्मा (क्षर-प्रधान भाग से) स्वकार्यभूत आकाश मे

समवाय सम्बन्ध से प्रविष्ट हो कर उसका आलम्बन बन जाता है। साधारण सम्बन्ध (सयोग सम्बन्ध) प्राविशत् है, समवाय सम्बन्ध **अनुप्राविशत्** है। आकाश इतर भूतो का विधर्त्ता है, परन्तु आकाश का विधर्त्ता कौन ? उत्तर है क्षरप्रधान आत्मा। आत्मा मे अव्यय–अक्षर–क्षर ये तीन धातु प्रतिष्ठित रहते है। दूसरे शब्दो मे उक्त तीनो धातुओ की समष्टि ही आत्मा है। पूर्व मे हमने आत्म-धृति लक्षण जिस सत्ताभाव का दिग्दर्शन कराया है, उसका आत्मा के अव्ययपर्व के साथ सम्बन्ध है। सृष्टिसाक्षी अव्यय मन–प्राण–वाड्मय है। मन-प्राण-वाक् की समुच्चित अवस्था ही सत्ता है। सत्ता रूप से अव्यय पुरुष सबका आलम्बन बना हुआ है। साथ ही मे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि स्वय अव्यय पुरुष मनप्रधान है, अक्षरपुरुष प्राण-प्रधान है, क्षर पुरुष वाक्प्रधान है। वाक् प्राणगर्भित मन प्रधान अव्यय विशुद्ध ज्ञानमूर्ति है, मन प्राणगर्भित वाक्प्रधान क्षर अर्थमूर्त्ति है एव मध्यपतित, अतएव अव्ययक्षरधर्म्मावच्छिन्न मनोवाग्गर्भित प्राणप्रधान क्षरप्रधानरूप से क्रियामूर्त्ति रहता हुआ ही "त्रिमूर्त्ति" है। प्राण की प्रधानता से जहाँ अक्षर को क्रियामूर्त्ति माना जा सकता है, वहाँ (मध्यपतित होने से) अव्यय सम्बन्ध से इसे ज्ञानमूर्त्ति एव क्षर सम्बन्ध से अर्थमूर्त्ति भी कहा जा सकता है। सृष्टि, क्रिया की अपेक्षा रखती है। क्रिया, एकमात्र अक्षर का धर्म्म है अतएव अक्षर को ही, गीता भाषा के अनुसार अव्यक्त प्रकृति को ही, विश्व का निमित्त कारण माना जाता है।

"तथाऽऽक्षराद्विविधा सौम्यभावा प्रजायन्ते तत्रचैवापियन्ति" (मुण्डक०उ०) के अनुसार अक्षर ही सृष्टि का मुख्य अधिष्ठाता है। यह प्राणमूर्त्ति है, अतएव इस प्राण सम्बन्ध से वही अव्ययरूप अस्ति-भाव विधृतिरूप मे परिणत हो जाता है। प्रत्येक भौतिक पदार्थ नियत्काल पर्य्यन्त अपनी जीवन सत्ता रखता है। नियत काल समाप्त होने पर उसके भौतिक परमाणुओ का सघटन टूट जाता है। उस अवस्था मे उस वस्तु के लिए हम **"इस वस्तु का अब दम निकल गया"** यह कहा करते है। यह **"दम"** वही प्राण-मूर्त्ति अक्षर पुरुष है। यह भौतिक परमाणु कूट (समूह-ढेर-राशि) को अपने प्राणसूत्र से एक सीमित एव नियत आयतन मे बद्ध रखता है अतएव यह प्राणमूर्ति अक्षरतत्त्व **"कूटस्थ"** नाम से प्रसिद्ध है–कूटस्थोऽक्षर उच्यते।" जिस दिन प्राणबन्धन श्लथ हो जाता है, भूतकूट विशकलित हो जाता है। विश्व मे सूर्य्य-चन्द्र पृथिवी-मनुष्य-पशु-पक्षि आदि जितने भी भौतिक पिण्ड आप देखते है, विश्वास कीजिए सबमे विधृतिरूप से कूटस्थ अक्षरपुरुष विद्यमान है। जब तक इनमे विधर्त्ता प्राणमूर्ति अक्षरपुरुष विद्यमान है, तब तक यह स्व-स्व कर्म्मभोग मे विवश है। यही विधर्त्ता अक्षरपुरुष का शासन है। इसी शास्ता अक्षररूप अन्तर्य्यामी की स्तुति करते हुए वेद महर्षि कहते है—

"तस्य वा एतस्याक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्य्या चन्द्रमसौ विधृतौतिष्ठतः"
(शत० १४।६।८।६)

निष्कर्ष यही हुआ कि प्रत्येक पदार्थ मे आत्मधृति से अतिरिक्त जो एक विधृति भाव देखा जाता है, वह अक्षररूप है। यही अव्ययास्ति का दूसरा रूप है। अव्यय सत्ता मनोमयी थी, अक्षर सत्ता प्राणमयी है।

धृति स्वरूप परिचय—

तीसरी है क्षर धातु। "क्षर सर्वाणि भूतानि" के अनुसार क्षर भूतमय है। एक भूत दूसरे भूत का आलम्बन बन रहा है। आकाशात्मक स्वयभू परमेष्ठी की प्रतिष्ठा है, परमेष्ठी सूर्य्य की, सूर्य्य पृथिवी की, पृथिवी चन्द्रमा एव अस्मदादि पार्थिव प्रजा की प्रतिष्ठा है। वस्त्र की प्रतिष्ठा हमारा शरीर है। टेबिल पुस्तक की, अश्व मनुष्य की प्रतिष्ठा है। इसी आधाराधेय भावमूला प्रतिष्ठा को "**धृति**" कहा जाता है। यहाँ सयोग सम्बन्ध प्रधान है। दूसरे शब्दो मे सयोग सम्बन्ध द्वारा एक द्रव्य मे द्रव्यान्तर की जो प्रतिष्ठा है, वही धृति है। भूपिण्ड हमारी धृति है।इसकी धृति से हम (हमारा शरीर) प्रतिष्ठित है। जिस समय यह धृति हमारे शरीर से निकल जाती है, उसी क्षण आत्मा मे भय का सञ्चार हो जाता है। उदाहरण के लिए अपनी गति का निरीक्षण कीजिए। आप राजमार्ग (सडक) से जा रहे है। मार्ग मे किसी स्थान पर एक फुट के परिमाण से जमीन ढालू आती है। यदि इस पर आप सावधानी से पैर रख कर चलते है तो भय का कोई अवसर नही है। इसका कारण यही है कि यहाँ आपकी दृष्टि धृति पर रहती है। परन्तु असावधानी से यदि दो इञ्च ढालू जमीन पर भी आपका पैर पड जाता है तो तत्काल आपका आत्मा कम्पित हो पडता है। कलेजा काँप उठता है, आत्मा मे धक्का सा लगता है। कारण इसका यही है कि असावधानी के कारण तत्स्थान रूपा धृति का आपके साथ सम्बन्ध नही होने पाता। सावधानी से आप बडे ऊँचे से कूद सकते है, असावधानी से जरा भी ऊँचाई से गिर पडना भय का कारण बन जाता है। प्रत्येक भूत को, एव भौतिक पदार्थ को स्वगति की रक्षा के लिए यह क्षरात्मिका धृति प्रतिष्ठा अपेक्षित है। अस्ति अव्यय का रूप है। यही मनप्रधान अव्यय की दृष्टि से सत्ता है, प्राण-प्रधान अक्षर दृष्ट्या विधृति है, वाक्प्रधान क्षरदृष्ट्या धृति है। मन–प्राण–वाक् समष्टि को ही अस्ति कहा गया है एव इसी को सृष्टि-साक्षी अव्यय माना गया है। इस प्रकार एक ही अव्ययास्ति अव्यय–अक्षर–क्षर भेद से सत्ता–विधृति–धृत्ति इन तीन स्वरूपो मे परिणत हो जाती है। सत्ता स्वप्रतिष्ठा है। धृति परप्रतिष्ठा है। विधृति उभयप्रतिष्ठा है। सत्ता के उच्छेद मे वस्तुविनाश है, विधृति की उत्क्रान्ति मे वस्तु-स्वरूप परिवर्तन है, धृतिनाश मे भय है—

मन प्राणवाङ्मूर्त्तिरव्ययपुरुषः—"अस्तिब्रह्म"

१—अव्यय ——→मनप्रधानोज्ञानमूर्त्ति ——→मन
२—अक्षर ———→प्राणप्रधान क्रियामूर्त्ति →प्राणा
३—क्षर ———→वाक्प्रधानोऽर्थमूर्त्ति ———→वाक्
} ——→सघातोऽस्तिभाव।

—❀—

१—सत्ता→आत्मप्रतिष्ठामनोमयी—→स्वप्रतिष्ठा-→अव्ययप्रधानावस्तुरूप समर्पिका।

२—विधृति →प्राणप्रतिष्ठाप्राणमयी→उभयप्रतिष्ठा→अक्षरप्रधाना वस्तुस्वरूप रक्षिका।

३—धृति →भूतप्रतिष्ठा वाङ्मयी——→परप्रतिष्ठा→क्षरप्रधाना भूतालम्बन रूपा।

इस प्रकार उपर्युक्त निदर्शन से यह सिद्ध हो जाता है कि एक ही अस्तिभाव आत्मपर्व भेद से तीन भागो मे विभक्त हो जाता है। त्रेधा विभक्त अस्ति तत्त्व ही आत्मा है,

आत्मसत्य स्वरूप परिचय— आत्मा ही सत्यब्रह्म है। आत्मसत्य की सत्ता–विधृति–धृति इन तीनो पर्वो की समान व्याप्ति है। इसी आधार पर, आत्म-सत्य के आधार पर प्रतिष्ठित देवताओ के लिए **"त्रिःसत्ता वै देवा"** यह कहा जाता है। जिस तत्त्व की अपेक्षा से नाम–रूप–कर्म्मात्मक पदार्थ मे "अस्ति" यह बोध होता है, वही **प्रतिष्ठाब्रह्म** है, वही है, जो है—सत्य है। यह सत्य तत्त्व किवा **"अस्तिब्रह्म"** प्राणमूर्त्ति अतएव ऋतरूप अक्षर तत्त्व के समन्वय से **हरति–द्यति–यच्छति** इन तीन भावो से युक्त होता हुआ, हृदयरूप मे परिणत हो जाता है। अन्नादान के लिए प्राण-मूर्त्ति उक्थ अक्षर से अशनाया सूत्र निकलता है। अशनाया सूत्र से आकर्षित अन्न अग्नि मे आहुत होता है। अन्नाहरणावच्छिन्न वही प्राणाग्नि "हरि" है। अन्न सम्बन्धेन अन्तर्व्याप्नोति, अन्तर्विशति इस व्युत्पत्ति से "विष्णु" कहलाता है।

अन्नादाग्नि मे आया हुआ अन्न क्रमश· विस्रस्त होता रहता है। विस्रस्त्यवच्छिन्न वही प्राण अशनाया को प्रदीप्त करता है। विस्रस्ति से कमी होती है। कमी से बुभुक्षा का

नाभि–प्रधि–भाव सञ्चार होता हे। विना अन्न के अग्नि क्षुब्ध हो जाता है यही इसकी दीप्ति है, अतएव इस विस्रस्तिधर्म्मा उद्दीपक हृदयप्राण को "य ईन्धे, उद्दीपयति" इस व्युत्पत्ति से **इन्द्र** कहा जाता हे। आदान आगति है, विस्रस्ति गति है। दोनो का नियन्ता, दूसरे शब्दो मे दोनो का भर्त्ता स्थिति प्रधान प्राण ही **"बिभर्त्ति सर्व, धारयति नियमयति"** इस व्युत्पत्ति से **भर्म्मन्** कहा जाता है। नैरुक्त निर्वचन क्रमानुसार परोक्ष भाषा मे यही भर्म्मन् र्–ह् विपर्य्यास से "**ब्रह्मा**" कहलाता है। **अक्षर** को हमने प्राण–प्रधान होने से प्राणमूर्ति कहा है। साथ ही मे प्राण को क्रियाशक्तिमय बतलाया गया है। क्रिया गति–तत्त्व है। अक्षर का यही वास्तविक स्वरूप है। केवल गति–तत्त्व ही गति के तारतम्य से हरति–द्यति–यच्छति, इन तीन रूपो मे परिणत हो जाता है। केन्द्र प्रतियोगिनी पधि (परिधि–वस्तुसीमा) अनुयोगिनी गति, **"गति"** है। केन्द्रानुयोगिनी प्रधि–प्रतियोगिनी वही गति **"आगति"** है। **आगति** आहरण की अधिष्ठात्री है। गति निर्गमन की अधिष्ठात्री है। दोनो का समन्वित रूप ही **स्थिति** है। इन्द्राविष्णू गतिस्वभाव है, ब्रह्मा स्थितिस्वभाव है। **उत्क्षेपण** इन्द्र का धर्म्म है, **अवक्षेपण** विष्णु का धर्म्म। दोनो की प्रतिष्ठा रूप **नियन्त्रण** ब्रह्मा का धर्म्म है। कहने के लिए तीनो देवता पृथक्-पृथक् है। वस्तुत· एक ही तत्त्व के तीन विवर्त्तमान है। इसी आधार पर **"एकामूर्तिस्त्रयोदेवा ब्रह्माविष्णुमहेश्वराः"** यह कहा जाता है। अक्षर तत्त्व को विधृति–प्रतिष्ठा बतलाया गया है। यही स्थितिमूल बनता हुआ **"यम्"** है, गति सम्पर्क बनता हुआ "द" है, आगति प्रधान बनता हुआ **"हृ"** है। एक ही प्रतिष्ठा ब्रह्म के **हृ–द–यम्** यह तीन रूप है। हृदय (केन्द्र) मे यह हृ–द–य–रूप अक्षर तत्त्व प्रतिष्ठित है। हृदय और अक्षर तत्त्व एक प्रकार से पर्य्याय है। एक ही अक्षर मे हृ-द--यम् ये तीन अक्षर है। इसी त्रिमूर्ति अक्षर की स्तुति करते हुए वेदविद् कहते है—

"नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने"

हृदय मे प्रतिष्ठित रहने वाला हृदयरूप अक्षर–तत्त्व–"**सहृदय सशरीर सत्यम्**" के अनुसार सत्य है। यह सत्य तत्त्व ऋतभाव के ससर्ग से **प्रधि–नाभि** इन दो भावो मे परिणत हो जाता है। ऋततत्त्व **अन्न** है सत्य तत्त्व **अन्नाद** है। अन्नाद सत्य मे ऋत अन्न निरन्तर आहुत होता रहता है। हृदय से प्राण रूप मे परिणत होकर निकलने वाले आशनाया सूत्र से आकर्षित अन्न सोममय है। यह सोम ऋततत्त्व है। इस ऋत की नाभि वही हृदय है। आहुत ऋतान्न की प्रतिष्ठा हृदय स्थान ही है क्योकि नाभि के चारो ओर सारे ऋत भाग नाभि से बद्ध हो कर प्रतिष्ठित रहते है। इस प्रकार नाभि–सूत्र के आधार पर प्रतिष्ठित यह ऋततत्त्व जितने प्रदेश मे (सत्य तत्त्व के आधार पर) धृत रहता है, वह बहि सीमा ही तत्तद् वस्तु की **प्रधि** कहलाती है। इस पधि भाग का यह हृदय (नाभि) स्पर्श किए रहता है अतएव "स्पृशति हृदय" इस व्युत्पत्ति से इस प्रधि को "**पृष्ठ**" कहा जाता है। अथवा यह बहि सीमा हृदयभाव का चारो ओर से स्पर्श करके ही स्व स्वरूप से प्रतिष्ठित हो रही है, इसलिए "**हृदयं सर्वतः स्पृत्वा-तिष्ठति**" इस व्युत्पत्ति से इसे प्रधि नाम से व्यवहृत किया जाता है। हृदय सत्यतत्त्व की साक्षात् प्रतिमा है। प्रधि ऋत की प्रतिमा है। सम्पूर्ण सत्यभाव ऋत के गर्भ मे रह कर ही अपने स्वरूप को प्रतिष्ठित रखने मे समर्थ होता है। इसी आधार पर "**ऋतेभूमिरियंश्रिता**" यह कहा जाता है। साथ ही मे सारे ऋत भाव हृदय रूप सत्य के आधार पर प्रतिष्ठित है। ऋततत्त्व सत्य मे ओतप्रोत है। दोनो परस्पर ओत-प्रोत है। दोनो मे कौन पूर्वभावी है, कौन पश्चाद् भावी है ? यह अचिन्त्य है। परन्तु यह अचिन्त्य भाव विश्व की अपेक्षा से ही सम्बन्ध रखता है। विश्व मे सत्य–ऋत के पौर्वापर्य्य विवेक सम्भव नही है परन्तु विश्व के मूल तत्त्व का अन्वेषण करने पर ऋततत्त्व को ही पूर्वज मानना पडता है। कारण स्पष्ट है। विश्व सहृदय होने से ससीम है। विश्वातीततत्त्व असीम है। उसमे सीमाभाव सम्पादक एव सत्यस्वरूप समर्पक हृदय का अभाव है। वही मौलिक तत्त्व है। इसी आधार पर "ऋत नात्येति किञ्चन" यह कहा जाता है। अस्तु विश्वातीत अवस्था मे कुछ भी हो, विश्वदशा मे ऋत–सत्य दोनो सहचारी है। "**ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत**" यह निश्चित सिद्धान्त है। ऋत–सत्य के इसी अविनाभाव सम्बन्ध को लक्ष्य मे रख कर "**ऋत सत्येऽधायि सत्यऋतेऽधायि**" यह कहा गया है। ऋत बहि सीमा है, सत्य अन्त सीमा है। ऋत आत्मा का **महतोमहीयान्** रूप है, सत्य **अणोरणीयान्** रूप है। बहि सीमा प्रधि है, अन्त सीमा नाभि है। इस प्रकार ऋत अन्न के सम्बन्ध से प्रत्येक पदार्थ मे नाभि-प्रधि ये दो भाव उत्पन्न हो जाते है।

सर्व प्रतिष्ठा तत्त्व

यद्यपि हम यह कह चुके है कि विश्वसीमा के भीतर ऋत सत्य के पौर्वापर्य्य का निर्णय करना कठिन है, तथापि स्थूल–दृष्टि से विचार करने पर यह मान लेने मे कोई आपत्ति नही होती कि जिस प्रकार मूलावस्था मे ऋततत्त्व पूर्व है, सत्य पश्चाद्भावी है, ठीक इसके विपरीत मूलावस्था रूप विश्व मे सत्य का स्थान प्रथम एव मुख्य है, ऋत का स्थान द्वितीय एव गौण है। सर्वप्रथम हृदयभाव उत्पन्न होता है। जब तक हृदय नही, तब तक अशनाया नही। बिना अशनाया के ऋतान्न का सम्बन्ध नही। अन्नाद अन्न के लिए नही है, अपितु अन्न अन्नाद के लिए है। भोक्ता भोग्य के लिए नही है, अपितु भोग्य भोक्ता के लिए है। जीवन भोजन के लिए नही है, अपितु भोजन जीवन के लिए है। भोक्ता आधार है, भोग्य आधेय है।

आधेय आधार की अपेक्षा रखता है। अन्न स्वप्रतिष्ठा के लिए अन्नाद की अपेक्षा रखता है। इसी आधार पर हम कह सकते है कि विश्व मे सर्व प्रथम अन्नादमूर्ति हृदयरूप सत्यतत्त्व का ही विकास होता है अत-एव जहाँ विश्वातीत स्थिति को लक्ष्य मे रख कर महर्षि **"ऋतं नात्येति किञ्चन"** यह कहते है, वही विश्वदृष्टि को लक्ष्य मे रख कर **"सत्ये सर्व प्रतिष्ठितम्"** यह कहा जाता है।

सर्वाग्रज सत्य तत्त्व—

यह सत्यतत्त्व (विश्वापेक्षया) सर्वाग्रज है, अतएव **"सर्वस्याग्रे समभवत्"** इस व्युत्पत्ति के आधार पर इस अन्नाद-सत्य को **"अग्रि"** कहा जाता है। यही अग्रि परोक्षप्रिय देवताओ की परोक्ष भाषा के अनुसार आज **अग्नि** नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। अग्नितत्त्व की रक्षा के लिए ऋततत्त्व सुत होता है अतएव 'सत्यस्वरूपावताराय सूयते' इस व्युत्पत्ति से इसे सोम कहा जाता है। प्रारम्भ मे हमने अक्षर के **ब्रह्मा विष्णु इन्द्र** ये तीन रूप बतलाए है। विष्णुतत्त्व शुद्ध आगति है, इसका प्रधि से सम्बन्ध है। इन्द्रतत्त्व शुद्ध गति है, इसका नाभि से सम्बन्ध है। स्थितिमूर्त्ति ब्रह्मा एव गतिमूर्त्ति इन्द्र दोनो के समन्वय से उपर्युक्त अग्नि नाम के सत्यब्रह्म का विकास होता है ब्रह्मेन्द्र की समष्टि, दूसरे शब्दो मे ब्रह्मगर्भित इन्द्र (स्थिति गर्भिता गति) ही अग्नि है। एवमेव स्थितिमूर्त्ति ब्रह्मा एव आगतिमूर्त्ति विष्णु दोनो के समन्वय से सोम नाम के ऋतब्रह्म का विकास होता है। ब्रह्मा विष्णु की समष्टि दूसरे शब्दो मे ब्रह्मगर्भित विष्णु (स्थितिगर्भिता आगति) ही सोम है। अग्निब्रह्म विकासधर्म्मा है सोमब्रह्म सकोचधर्म्मा है। बहिर्गतिगर्भिता प्रतिष्ठा ही विकास है। एक पुष्प पर दृष्टि डालिए। पुष्प की प्रत्येक पखुडिएँ बाहर निकल रही है। सभी पखुडियो मे गति है। परन्तु मूल प्रतिष्ठा से यह गतिबद्ध है अतएव बाहर की ओर निकलती हुई पखुडिएँ पुष्पमूल को छोड कर उत्क्रान्त नही होने पाती। यही पुष्प का विकास है, यही पुष्प का खिलना है। ऐसी गति जो स्थितिगर्भ मे प्रतिष्ठित रहे, वही विकास है। विकास स्थिति-गति का समुच्चित रूप है। यदि गति प्रतिष्ठा को (स्थिति को) सर्वथा छोड देती है तो विशुद्ध इन्द्र रह जाता है। आकाश मे चमकने वाली विद्युत् मे प्रतिष्ठा नही है, अतएव तत्क्षण विद्युत् उत्क्रान्त हो जाती है। यह इन्द्र के साक्षात् दर्शन है—(देखिए केन०) यही गति, स्थितिगर्भिता बन कर विकासभाव को प्राप्त होती हुई अग्नि नाम से व्यवहृत होने लगती है। एवमेव शुद्ध आगति विष्णु है। यदि यह आगति स्थितिगर्भिता बन जाती है तो सोम का प्रादुर्भाव हो जाता है। अग्निब्रह्म गतिस्वभाव है, सोमब्रह्म स्थिति स्वभाव है। दूसरे शब्दो मे आकुञ्चन भाव का सोम से सम्बन्ध है, प्रसारणभाव का अग्नि से सम्बन्ध है। तात्पर्य यही है कि पञ्चकोषात्मक अव्ययपुरुषानुगृहीत, ऋत का सत्यात्मक, सृष्टि प्रवर्त्तक, प्राणप्रधान अतएव गतिरूप एक ही अक्षर—तत्त्व

१ २ ३ ४ ५

गति—तारतम्य से [गतिसमुच्चय (स्थिति), शुद्ध गति, शुद्ध आगति, स्थितिगर्भिता आगति, स्थितिगर्भिता

१ २ ३ ४ ५

गति तारतम्य से] क्रमश ब्रह्मा,—इन्द्र—विष्णु—सोम—अग्नि इन पाँच स्वरूपो मे परिणत हो जाता है। इन पाँचो मे **ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र** ये तीनो अक्षर **हृद्य** है। हृदय इन तीनो की आवास भूमि है। अग्नि-सोममयी प्रजा के इन तीनो हृद्य अक्षरो की समष्टि **"प्रजापति"** नाम से व्यवहृत होती है। इसी त्रिमूर्ति को "अन्तस्तिष्ठन् सन् नियमयति पदार्थ गतान् भावान्" इस व्युत्पत्ति से **"अन्तर्य्यामी"** नाम से व्यवहृत किया

जाता है । यही तत्त्व **नियति-सत्य** नाम से प्रसिद्ध है । अग्निसोमसमष्टि **"सूत्रात्मा"** नाम से प्रसिद्ध है । प्रजापति एव सूत्रात्मा की समष्टि ही **"सर्वम्"** है । पितर–ऋषि–देवता–मनुष्य–पशु–पक्षि आदि किसी भी प्रजा के मूलतत्त्व का यदि आप अन्वेपण करेगे तो आपको उपर्युक्त पञ्चमूर्त्ति अक्षरतत्त्व का ही आश्रय लेना पडेगा । ऐसी स्थिति मे किसी भी तत्त्व का स्वरूप-परिचय कराने से पूर्व मूलभूत अक्षर का स्वरूपज्ञान नितान्त अपेक्षित हो जाता है । इसी अपेक्षाभाव को लक्ष्य मे रखते हुए अप्राकृत होते हुए भी हमने इस प्रकरण मे अक्षर का स्वरूप बतलाना आवश्यक समझा है । मूलतत्त्व का निरूपण समाप्त हुआ । अब प्रकृत विषय की ओर पाठको का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

अग्नित्रयी मीमांसा—

अग्नि-सोम ही विश्व के स्वरूप समर्थक है । अग्नि को हमने प्रसरणशील कहा है । प्रसरणशील यह अग्नि नाभि से निकल कर केन्द्र प्रधि की ओर जाता हुआ क्रमश. चीयमान होता है । इस चीयमान अग्नि की **अमृत-मर्त्य** भेद से दो अवस्थाएँ हो जाती है । मर्त्याग्नि **भूताग्नि** है, अमृताग्नि **प्राणाग्नि** है । प्राण को ही देवता कह जाता है । देवता एव भूत, दोनो उसी हृद्यप्रजापति की सन्तान है । भूताग्नि याज्ञिक परिभाषा मे **"चित्याग्नि"** नाम से प्रसिद्ध है । देवाग्नि (प्राणाग्नि) **चितेनिधेय** नाम से व्यवहृत होता है । भूताग्नि की अप्–फेन–मृत्–सिकता–शर्करा–अश्मा–अय–हिरण्य भेद से आठ चितिएँ है । इन आठो के समन्वय से वस्तुपिण्ड का स्वरूप निष्पन्न होता है । अष्टचिति के कारण ही यह भूताग्नि **"गायत्र"** नाम से प्रसिद्ध है । इसीलिए निरुक्त मे **"अग्निर्भू स्यात "** तथा यजुर्वेद मे "यथाग्निगर्भा पृथिवी" इत्यादि उद्धृत प्रमाणो के अनुमार भूपिण्ड अग्नि-प्रधान है । उक्त आठ चितियो के कारण ही **"या वै सा गायत्री आसीत्, इयं वै सा पृथिवी"** (शत० १।१) के अनुसार भूपिण्ड को **"गायत्री"** कहा जाता है । **"अष्टाक्षरा वै गायत्री"** के अनुसार आठ अक्षर (प्राण) की समष्टि ही गायत्री है । इन्ही आठ अर्थाक्षरो से पार्थिवाग्नि **"गायत्र"** कहलाता है ।

दूसरा है प्राणाग्नि । भूताग्नि से जहाँ वस्तुपिण्ड का स्वरूप निष्पन्न होता है, वहाँ प्राणाग्नि से वस्तुमहिमा का स्वरूप सम्पादन होता है । प्राणाग्नि भूकेन्द्र से निकल कर वर्त्तुलवृत्त बनाता हुआ ऊपर की ओर जाता है । जाते हुए इस प्राणाग्नि की चित्यपिण्ड के आधार पर क्रमिक चिति होती है । इसीलिए **"चितेनिधीयते"** इस निर्वचन के अनुसार इस प्राणाग्नि मे **"चितेनिधेय"** कहा जाता है । विस्रस्त होने वाले इस अग्नि को हमने विकासधर्म्मा कहा है । इसका प्रथम विकास **अग्नि** है, दूसरे शब्दो मे विकास की मूलावस्था **अग्नि** है । द्वितीयावस्था **वायु** है, तृतीयावस्था **आदित्य** है । यही तीनो अवस्थाएँ क्रमश घन–तरल–विरल नाम से प्रसिद्ध है । हृदयस्थ प्रजापति **अङ्गी** हे, यही वस्तुपिण्ड का आत्मा है । आत्मा को ही अङ्गी कहा जाता है । अक्षर का स्वरूप बतलाते हुए हमने कहा है कि हृद्य-प्रजापति का गतिरूप इन्द्र भाग ही स्थितिरूप ब्रह्मा से युक्त हो कर अग्निस्वरूप मे परिणत हाता है । यह अग्नितत्त्व अङ्गी प्रजापति का रस है । अतएव **"तेजो रसो निरवर्त्ताग्नि "** इत्यादि रूप से इस प्राणाग्नि को **'रसाग्नि'** कहा जाता है । प्राणतत्त्व को ही निम्नलिखित श्रुति **ऋषि** नाम से व्यवहृत करती है—

"असद्वा इदमग्र आसीत् । तदाहुः किं तदसदासीत्–इति ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्–इति । तदाहुः—के ते ऋषय इति । प्राणा वा ऋषयः"

(शत० ६।१।१।१)

विकासधर्म्मा यह ऋषिप्राण अङ्गी (मूलाग्नि) का रसनमात्र है, अतएव वैज्ञानिको ने इसे **"अङ्गिरस"** नाम से व्यवहृत किया है । इसी अङ्गिरा की पूर्वोक्त अग्नि–वायु–आदित्य ये तीन अवस्थाएँ हो जाती है । अङ्गिरा तीन है, अतएव इनके लिए "अङ्गिरसो न पितरो" इत्यादि कहा जाता है । इस रसाग्नि की अग्नि प्रथम चिति है । वायु द्वितीय चिति है । आदित्य तृतीय चिति है । इन तीनो की दो सान्ध्य चितिएँ और हो जाती है । इस प्रकार सम्भूय पाँच चितिएँ हो जाती है । इसी आधार पर इस रसाग्नि के लिए "पञ्चचितिकोऽग्नि" यह कहा जाता है । निष्कर्ष यही हुआ कि हृद्य अङ्गी प्रजापति का अङ्गिरा भाग अवस्थात्रय के कारण क्रमश अग्नि–वायु–आदित्य इन तीन स्वरूपो मे परिणत हो जाता है । ये तीनो एक ही अग्नि की तीन अवस्था मात्र है ।

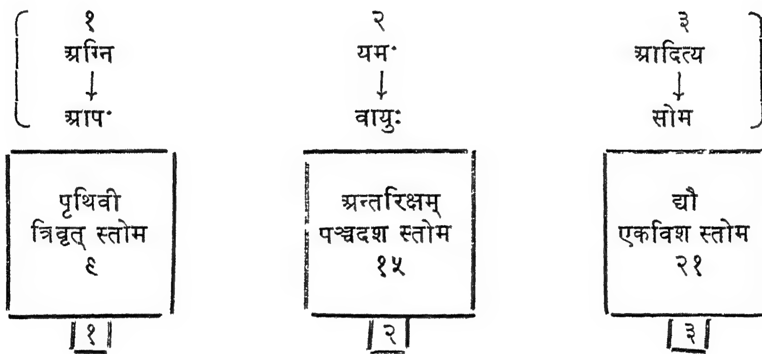
सोमत्रयी मीमांसा— सोमतत्त्व आकुञ्चनधर्म्मा है । अग्निचिति बहिर्मुखी थी, सोमचिति अन्तर्मुखी है । प्रधि से केन्द्र की ओर इसकी चिति होती है । **प्रात सवन–माध्यदिन सवन–साय सवन** इन तीन सवनो के कारण इस सोम की भी अग्निवत् **आप –वायु–सोम** ये तीन अवस्थाएँ हो जाती है । अप घनावस्था है, वायु तरलावस्था है, सोम विरलावस्था है । सकोच की मूलावस्था सोम है, द्वितीयावस्था वायु है तृतीयावस्था आप. है । अग्निवत् इस सोम की भूत-प्राण भेद से दो अवस्थाएँ है । भूतात्मक सोम, पिण्डाग्नि का स्वरूप समर्पक है, प्राणात्मक सोम, महिमाग्नि की आधार भूमि है । यह भार्गव तत्त्व स्वसकोचवृत्ति से उत्तरोत्तर वस्तु को भरता जाता है, दृढ करता जाता है, दूसरे शब्दो मे वस्तु को परिपक्व बनाता है, अतएव इस ऋषि (सौम्यप्राण) को **भृगु** कहा जाता है—(भ्रस्जपाके) । इस प्रकार अग्निवत् सोम के भी तीन विवर्त्त हो जाते है । भू-विवर्त्त अग्निसोममय है । अग्नि सोम के अवस्था भेद से पृथिवी मे अग्नि–यम–आदित्य–अप्–वायु–सोम इन ६ तत्त्वो की सत्ता सिद्ध हो जाती है । अग्न्यादि तीनो भाव नाभ्यारब्ध पर्यवसान है, हृदय प्रतियोगी-प्रध्यनुयोगी है । अबादि तीनो भाव प्रध्यारब्ध नाभ्यवसान है, प्रधिप्रतियोगी, हृदयानुयोगी है । यही पृथिवी का षाट्कौशिक रूप है ।

यम स्वरूप परिचय— **अग्नि–यम–आदित्य** इन तीन **आङ्गिराओ** के साथ क्रमश अप्-वायु-सोम इन तीन भार्गवो का घनिष्ट सम्बन्ध है । अग्नि, अप् सहयोगी है, यम, वायु सहयोगी है, आदित्य, सोम सहयोगी है । अग्नि (ध्रुवाग्नि) अप् से सहयोग करके पृथिवी रूप मे परिणत हो जाता है **"अद्भ्य पृथिवी"** के अनुसार पृथिवी का उपादान अप्तत्त्व है परन्तु **"अपां सघातो विलयनं च तेजः सयोगात्"** इस कणाद-दर्शन के अनुसार बिना अग्नि-सम्बन्ध पानी मे कभी घनता उत्पन्न नही हो सकती । घनाग्नि के सम्बन्ध से ही पानी की अप्-फेन मृदादि

आठ अवस्थाएँ होती है। वस्तुत अप्-फेन-मृदादि पानी की आठ अवस्थाएँ नही है अपितु अग्नि की ही उक्त आठ अवस्थाएँ है। अग्निघनता के तारतम्य से अप्भाग पृथिवी (प्रतिष्ठा) रूप मे परिणत होता है।

यम का वायु के साथ सम्बन्ध है। आग्नेय वायु रुद्र है। वायव्य अग्नि को ही रुद्र कहा जाता है। विशुद्ध वायव्याग्नि सताप का कारण बनता हुआ जहाँ रुद्र कहलाता है, **"अम्बा"** नाम से प्रसिद्ध पारमेष्ठ्य पानी के सम्बन्ध से वही रुद्राग्नि शान्त बनता हुआ **"साम्ब सदाशिव"** नाम से व्यवहृत होने लगता है।

रुद्रमूर्त्ति यम, शिवमूर्त्ति वायु दोनो सहचारी है। इन दोनो के समन्वय से स्थिति एव नाश इन दो विरुद्ध भावो का उदय होता है। रुद्र देवता जहाँ विनाश के अधिष्ठाता है, वहाँ शिवतत्त्व सम्भूति के प्रवर्त्तक है। तीसरे आदित्यतत्त्व का सम्बन्ध सोम के साथ है आदित्य से प्रकृत मे द्युलोक स्थानीय **मघवा इन्द्र** ही अभिप्रेत है इन दोनो के समन्वय से ज्योति का उदय होता है। इस प्रकार अग्नि-अप् का यम-वायु का युग्म अन्तरिक्ष का, आदित्य-सोम का युग्म द्युलोक का अधिष्ठाता है। यही इन छओ का दाम्पत्य भाव है—



अग्नि-यम-आदित्यात्मिका अग्नित्रयी, एव अप-वायु-सोमात्मिका भृगुत्रयी को हमने पृथक्-पृथक् तत्त्व बताया है। दूसरे शब्दो मे दाहक-दाह्य भेद से अग्नि-सोम को विजातीय पदार्थ माना है। परन्तु वास्तव मे दोनो अभिन्न सखा है। एक ही तत्त्व की दो भिन्न अवस्थाओ का नाम अग्नि-सोम है। अग्नि-सोम की इसी अभिन्नता का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

"अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥

(ऋ० ५।४४।१५)

अग्नि अन्नाद है, सोम अन्न है । अन्नात्मक सोम अन्नादात्मक अग्नि का सखा (मित्र–सहचारी) अवश्य है, परन्तु अग्नि की अपेक्षा इसका ओक (स्थान-पोजीशन-रुतबा) नीचा है। इसी अभिप्राय से **न्योका** कहा गया है। अग्नि-षोम दोनो सयुक्त देवता कहलाते है । अप्-वायु-सोम तीनो भार्गव-तत्त्व प्रधि की ओर से क्रमश सकुचित होते हुए हृदय की ओर अपना रुख रखते है। उत्तरोत्तर हृदय की ओर आते हुए इन तीनो स्नेह लक्षरण तत्त्वो के सकोच की वृद्धि होती रहती है। जब तक तीनो को पृथक्-पृथक् प्रतिष्ठित होने के लिए प्रदेश मिलता रहा है, तब तक तो इनमे सघर्ष उत्पन्न नही होता। परन्तु यह तीनो सौम्यतत्त्व जब प्रदेश भावरहित सकुचित होते-होते हृदय स्थान पर आ जाते है तो स्थानाभाव के काररण तीनो मे सघर्ष हो पडता है । इस सघर्ष से किवा घर्षरण से तत्काल तीनो की समुच्चयावस्था विपरीतगति का आश्रय लेती हुई अग्निरूप मे परिरणत हो जाती है । घर्षण-बल से उत्तेजनाभाव का उदय होता है, इस उत्तेजना बल को ही **सहोबल** कहा जाता है। सहोबल ही **"साहस"** का प्रवर्त्तक माना गया है । इसी सहोबल से अग्नि का जन्म होता है अतएव अग्नि को **"सहोजा"** कहा जाता है। घर्षण प्रक्रिया ही अग्नि की जननी है । हस्त-घर्षरण से ऊष्मा उत्पन्न होती देखी जाती है। सकोच की चरम-सीमा ही विकास की जननी है। भृगुत्रयी की जननी है।

अग्नि-सोम की अभिन्नता—

प्रधि से केन्द्र मे आ कर अवकाश न पाने के कारण सघर्ष मे आ कर विपरीत गति का आश्रय लेता हुआ वही भृगु, अङ्गिरा रूप मे परिणत हो जाता है। विशकलनधर्म्मा अग्नि क्रमश विशकलित होता हुआ हृदय से प्रधि की ओर जाता है। जहाँ तक विकास की सीमा है वहाँ तक तो अग्नि विशकलित होता रहता है परन्तु विकास की चरम सीमा पर पहुँच कर विकास की मृत्यु हो जाती है, फलत वही विकास चरम सीमा पर पहुँच कर सकोच रूप से परिणत हो जाता है। अग्नित्रयी की यह सकोचावस्था ही सोम है। प्रधि से हृदय की ओर गति होने लगती है। इस प्रकार अवस्था तारतम्य से अग्नि-सोम बना करता है। सोम, अग्निस्वरूप मे परिरणत हुआ करता है। हृदय से प्रधि की ओर अग्नि का उद्ग्राभ है। प्रधि से हृदय पर्य्यन्त अग्नि का निग्राभ है। एवमेव प्रधि से हृदयपर्य्यन्त सोम का उद्ग्राभ है, हृदय से प्रधि-पर्य्यन्त सोम का निग्राभ है। अग्नि-सोम के उद्ग्राभ-निग्राभ (चढाव-उतार) की विषमता ही अग्नि-सोम की मित्रता का प्रधान काररण है। यही वैषम्य दोनो के जीवन का एव दोनो की मित्रता का जनक बन रहा है।

हृदय किवा (वस्तु के) अन्त पृष्ठ से (जो कि अन्त पृष्ठ विज्ञान भाषा मे स्पृश्यपृष्ठ, किवा स्पृश्यपिण्ड नाम से व्यवहृत हुआ है) प्रधिपर्य्यन्त एक स्थिर वाङ्मय मण्डल है । यही मण्डल **"महिमा" "साहस्री"–"पुन पद"–"विभूति"–बहिर्मण्डल–दृश्यमण्डल** आदि विविध नामो से प्रसिद्ध है। उक्त अग्नि-सोम की किवा भृगु-अङ्गिरा की गमनागमनरूपा-स्पर्धा इसी महिमामण्डल मे हुआ करती है। जिस प्रकार वस्तुपिण्ड का एक निश्चित हृदय (केन्द्र) है, एवमेव महिमामण्डल का भी एक स्वतन्त्र केन्द्र बनता है । यही महिमामयी केन्द्रशक्ति **"उद्गीथप्रजापति" "सप्तदशप्रजापति" "आहवनीय"** आदि

नामो से प्रसिद्ध है। सप्तदशस्तोमात्मक इस महिमाकेन्द्र से अर्वाक् भाग मे (१७ से आरम्भ कर वस्तु पिण्ड के हृदयपर्य्यन्त भाग मे) विकासधर्म्मा अग्नि का साम्राज्य है, हृदयस्थान से ही अग्नि का प्रादुर्भाव होता है, एव महिमामण्डल के १७वे अहर्गण तक इसकी व्याप्ति रहती है। महिमा केन्द्र रूप १७वे अहर्गण से पराक् भाग मे (१७ से प्रधि सीमा रूप ३३वे अहर्गण पर्य्यन्त) सकोच धर्म्मा सोम की प्रधानता है। इस प्रकार १७वे से नीचे अग्नि का, १७वे से ऊपर सोम का प्रभुत्व है। सत्रहवे स्थान मे दोनो का समन्वय है। इसीलिए तो **"यत्राग्नौ आहूयते सोम"** इस निर्वचन से इसे आहवनीय कहा जाता है। सत्रहवे से नीचे अग्नि की प्रधानता है, १७ से ऊपर सकोच की प्रधानता है। स्वय सप्तदश स्थान पर सकोच-विकास दोनो का सामजस्य है। यहा अग्नि-सोम दोनो बल समानावस्था से युक्त रहते है। दूसरे शब्दो मे यहा अग्नि-सोम दोनो का नियमन हो रहा है। सोम की सकोचगति को अग्नि ने विष्टब्ध कर रक्खा है। सकोचविकास की यह स्तम्भनावस्था ही **"यम"** है। यद्यपि मध्यस्थ होने से यम में अग्नि-सोम दोनो की सता का आभास होता है, परन्तु वस्तुत यम मे अग्नि की ही प्रधानता समझनी चाहिए। कारण इसका यही है कि यम अवसान का अधिष्ठाता है, एव अवसान सोमप्रतिबन्धी अग्नि का ही अन्यतम धर्म्म है। अग्नितत्त्व सोमानुबन्धी, सोमप्रतिबन्धी भेद से दो भागो मे विभक्त है। सोमानुबन्धी अग्नि यज्ञस्वरूप सम्पर्क बनता हुआ पदार्थो की जीवन-सत्ता का कारण है। इस सोमानुबन्धी यज्ञाग्नि को अग्नि शब्द से व्यवहृत किया जाता है। **"अग्निर्वैयज्ञ."** के अनुसार अग्नि यज्ञ पर्याय है। सोमप्रतिबन्धी अग्नि आङ्गिरस वायु है। इसका एकमात्र कार्य्य जीवनसत्ताविच्छेद करना है। वायव्याग्निप्रधान होने के कारण इसकी सत्ता अन्तरिक्ष मे माननी पडती है। अन्तरिक्ष मध्य लोक है अतएव इसे मध्यस्थ कहा जा सकता है। मध्यवर्ती यह वायव्याग्निमूर्ति सोमप्रतिबन्धी यमतत्त्व अपने दक्षिण भाग से अग्नि का नियमन करता है, एव उत्तर भाग की ओर से ऊपर की ओर सर्वत वितत होता हुआ प्रधि-स्थान मे जा कर सोम स्वरूप मे परिणत हो जाता है एव प्रधिस्थ सोम ऊपर की ओर से नीचे की ओर (सकुचित होकर) आता हुआ नाभिस्थान मे जा कर अग्नि रूप मे परिणत हो जाता है।

अङ्गिरा-भृग-यम का पितृत्व—

अङ्गिरा (अग्नि) उत्तरोतर विशकलित होता हुआ प्रधि की ओर जाता है। विशकलन से यह उत्तरोत्तर सूक्ष्म हो जाता है। सूक्ष्म भाव ही अग्नि का **"तीक्ष्णीकरण"** है। इसी को तेजन (तिज निशाने-निशान तीक्ष्णीकरणम्) कहते है। तेजनभाव के कारण ही इसे **"तेज"** कहते है एव भार्गवसोम उत्तरोत्तर सकुचित होने कारण "स्नेहधर्म्मा' हे। तेज उष्ण है, स्नेह शीत है। उपर्युक्त **मध्यपतित यम** अनुष्णशीत है। यही (अग्नि-यम-सोम, दूसरे शब्दो मे अङ्गिरा-भृगु-यम) तीनों तत्त्व **"पितर"** नाम से प्रसिद्ध है। इन्ही तीनो का स्वरूप बतलाती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सौम्यासः।
एभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥

(यजुर्वेद १९।५०)

दक्षिण भाग नीचा कहलाता है। इसमे हमने अङ्गिरा (अग्नि) की प्रधानता बताई है। उत्तर भाग ऊँचा कहलाता है। इसमे भृगुपितर (सोम) की सत्ता बतलाई गई है। दोनो के मध्य मे मध्यस्थ **यमपितर** है। यही प्रकृत के अवर-मध्यम-पर पितर है। अङ्गिरा **अवर पितर** है। भृगु **पर पितर** है एव यम मध्यम पितर है। इसी अभिप्राय से—

"उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः"

यह अनुगम वचन हमारे सामने आता है।

तत्त्वा भव्यक्ति— पाठको को स्मरण होगा कि **अङ्गिरा** की हमने अग्नि-यम-आदित्य, एव भृगु की अप्-वायु-सोम ये तीन अवस्थाएँ बताई है। साथ ही मे यह भी आप न भूले होगे कि मध्यस्थ **अनुष्ण-**शीत यम दोनो का अनुग्राहक है। ऐसी स्थिति मे यह मान लेने मे कोई आपत्ति नही रह जाती कि यमपितर तेजनधर्म तीन आङ्गिरस पितरो से, एव स्नेहनधर्मा तीन भार्गव पितरो से युक्त होता हुआ **"सप्तसंस्थ"** बन जाता है। सप्त भावकृतैक इस सप्तसस्थ पितर से ही पार्थिव-आन्तरिक्ष्य-दिव्यभाव उत्पन्न होते है। त्रैलोक्य मे उत्पन्न होने वाली प्रजा-मात्र का उपादान यही पितरप्राण है। फलतः यह सिद्ध हो जाता है कि पार्थिव-आन्तरिक्ष्य-दिव्य सारे भाव (प्रत्येक) सप्तभावापन्न, दूसरे शब्दो मे सप्तसस्थ होते है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड मे तीन आङ्गिरस पितर, तीन भार्गवपितर, एक यम पितर है। अङ्गिरा-भृगु-यम की समुच्चित अवस्था ही प्रत्येक पदार्थ की अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्तित्व ही तत्तत् पदार्थ का व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व ही व्यक्ति की प्रतिष्ठा है। व्यक्ति ही पदार्थ है।

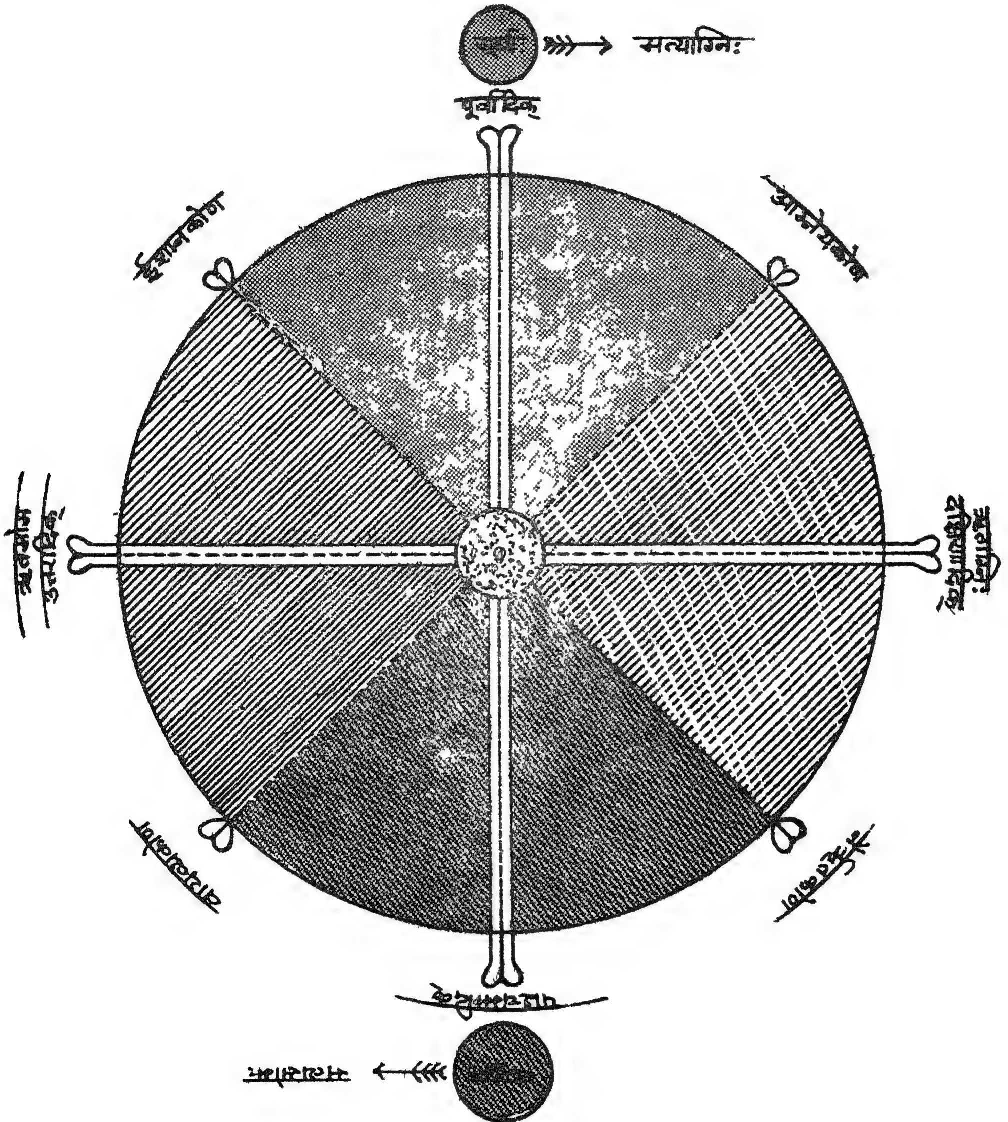
तत्त्वद्वयी की व्यापकता— उक्त निदर्शन से यद्यपि अग्नि-यम-सोम इन तीन तत्त्वो की सत्ता सिद्ध हो जाती है, परन्तु **"तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते"** इस न्याय के अनुसार यम का इन्ही दोनो मे (अग्नि-सोम मे) अन्तर्भाव मान लिया जाता है। इस प्रकार अन्ततोगत्वा अग्निसोम ये दो ही तत्त्व रह जाते है। अग्निरूप **यम** की सत्ता दक्षिण मे है अतएव दक्षिणदिक् **याम्या** कहलाती है। यमराज को दक्षिण दिशा का दिक्पाल माना गया है। यह यमाग्नि ऋतरूप है, वायुरूप है। अन्नादि का परिपाक करना इसका प्रधान कार्य है। यही दक्षिण से निरन्तर उत्तर को जाया करता है। यही कारण है क्षेत्रस्थ अन्न का दक्षिण की ओर का भाग पहिले परिपक्व होता है, जिसका कि क्षेत्र मे जाकर साक्षात्कार किया जा सकता है। दक्षिण की ओर से ही अन्न का परिपाक प्रारम्भ होता है। इसी आधिदैविक नियम के अनुसार अध्यात्म सस्था मे भी मेरुदण्ड से दक्षिण भाग मे अग्नि की ही प्रधानता रहती है। भुक्तान्न का परिपाक करने वाला वैश्वानराग्नि (जठराग्नि) दक्षिण भाग मे प्रतिष्ठित रह कर ही अन्न का परिपाक करता है। सोमसत्ता उत्तर मे है अतएव उत्तरादिक् **सौम्या** कहलाती है। अग्नितत्त्व बल का अधिष्ठाता है। बल से दक्षता (कर्म्म सामर्थ्य-कर्म्म प्रवणता) उत्पन्न होती है। दक्षबल के कारण ही यह दिक् दक्षिणादिक् कहलाती है। सोम निरन्तर उत्तर से दक्षिण की ओर जाया करता है। यह इसकी निर्गच्छ अवस्था है। सोम ही हमारा अन्न है। यदि एतत् प्रधानादिक् की ओर मस्तक करके शयन किया जाता है तो निर्गच्छत सोम

के बलवदाकर्षण से आकर्षित शारीर-सोममात्रा के निकल जाने की सभावना है। इससे जीवन मे हानि हो सकती है। इसी आधार पर '**नोदीचीना-शिरा शयीत**" (शतपथ ३।१।१।७) के अनुसार श्रुति ने उत्तर की ओर मस्तक करके शयन करने का निषेध किया है। दक्षिण से उत्तर की ओर आ कर सोमतत्त्व से युक्त होने वाला अग्निरूप यमतत्त्व शिवभाव मे परिणत हो जाता है। विशुद्ध यम जहाँ अवसान का अधिष्ठाता है, सोमयुक्त वही यम शिवरूप मे परिणत हो कर जीवन का हेतु बन जाता है। सोम ही इस शिव की शक्ति है। अग्नि तेज है, सोम रस है। अग्नि घोर तनू है, सोम शक्तिकारी तनू है। सम्पूर्ण शिव-शक्तिमय है, अग्निषोममय है। अग्निमोम की इसी व्यापकता का निरूपण करते हुए महर्षि जाबाल कहते है—

अग्निराख्यायते रौद्री, घोरा या तैजसी तनूः ।
शक्तिः सोमोऽमृतमयो, रसशक्तिकरी तनूः ॥१॥
अमृतं यत् प्रतिष्ठा सा, तेजो विद्याकला स्वयम् ।
स्थूल सूक्ष्मेषु भूतेषु, स एव रस-तेजसी ॥२॥
द्विविधा तेजसोवृत्तिः सूर्यात्मा चानलात्मिका ।
तथैव रसशक्तिश्च सोमात्मा च जलात्मिका ॥३॥
वैद्युतादिमयं तेजो मधुरादिमयो रसः ।
तेजो रस विभेदैस्तु वृत्तमेतच्चराचरम् ॥४॥
अग्नेरमृत–निष्पत्तिरमृतेनाग्निरेधते ।
अतएव हविः क्लृप्तम् अग्नीषोमात्मकं जगत् ॥५॥
ऊर्ध्वशक्तिमयः सोम' अधः शक्तिमयोऽनलः ।
ताभ्यां सम्पुरितमात्मा शश्वद् विश्वमिदं जगत् ॥६॥
अग्नेरूर्ध्व भवत्येषा यावत् सौम्यं परामृतम् ।
यावदग्न्यात्मं सौम्यममृतं विसृजत्यधः ॥७॥
अतएव हि कालाग्नेरधस्ताच्छक्तिरूर्ध्वगा ।
सोमस्यादहनंश्चोर्ध्वस्याधस्तात् पतनं भवेत् ॥८॥
आधार शक्त्यावधृतः कालाग्निरयमूर्ध्वगः ।
तथैव निम्नगः सोमः शिवशक्ति पदास्पदः ॥९॥
शिवस्योर्ध्वमयी शक्तिरधःशक्तिमयःशिवः ।
तदित्थं शिवशक्तिभ्यां नाव्याप्तामिह किञ्चन ॥१०॥

(जाबालोपनिषद्, २ ब्राह्मण)

महर्षि जाबाल ने अग्नि एव सोम के दो रूप बतलाए है। यह द्वैतभाव ऋत-सत्य भावमूलक ही समझना चाहिए। अग्नि एव सोम दोनो ही ऋत-सत्य के सम्बन्ध से दो-दो भागो मे विभक्त है, ऋताग्नि वायुरूप है, इसकी स्थिति दक्षिणदिक् मे है। सत्याग्नि सूर्य्यपिण्ड है, इसकी सत्ता पूर्वादिक् मे है। ऋत-सोम रसात्मक है, इसकी सत्ता उत्तर मे है। सत्यसोम आपोमय चन्द्रपिण्ड है, इसकी प्रतिष्ठा पश्चिमादिक् मानी जाती है, जैसा कि निम्नलिखित परिलेख से स्पष्ट हो जाता है—



वस्तुपिण्ड के हृदय मे निकल कर प्रधिभाग पर्य्यन्त वितत रहने वाले प्राणाग्नि की घन–तरल–विरल अवस्था भेद से अग्नि–यम–आदित्य ये तीन अवस्थाएँ बतलाई है। इन तीनो मे से क्रम-प्राप्त घनावस्थापन्न अग्नि पर सर्वप्रथम दृष्टि डालिए। घनावस्थापन्न इस घनाग्नि की घनता मे भी तारतम्य है। इस तारतम्य से घनाग्नि की आठ अवस्थाएँ हो जाती है। घनाग्नि की व्याप्ति त्रिवृत्-स्तोमावच्छिन्न पृथिवीलोक (स्तौम्य त्रिलोकी नाम से प्रसिद्ध पार्थिव त्रिलोकी का पृथिवीलोक) पर्य्यन्त मानी गई है। स्वय अग्नि **क्षत्र** है, इसकी अवान्तर आठ अवस्थाएँ **विट्** (प्रजा) है। अग्नि की यही आठ अवस्थाएँ, आठ वसु देवता है। सम्पूर्ण पार्थिव प्रपञ्च इन्ही आठो अग्निपर्वो मे निवास करता है, (बसता है) अतएव इन्हे वसु कहा जाता है। इन्ही आठो का नाम निर्देश करता हुआ **"आर्यसर्वस्व"** पुराण कहता है—

अग्नि-विभूति स्वरूप परिचय—

१ २ ३ ४ ५ ६
ध्रुवो–धरश्च–सोमश्च–आपश्चैवोनिलोऽनलः ।
७ ८
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्त्तिताः ॥

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८
ब्राह्मणश्रुति के अनुसार यही आठो अग्नि–पृथिवी–वायु–अन्तरिक्ष–आदित्य–द्यौ–चन्द्रमा–नक्षत्र इन नामो से प्रसिद्ध है। अनल अग्नि है, धर पृथिवी है, अतएव यह धरा नाम से प्रसिद्ध है। अनिल वायु है, आप अन्तरिक्ष है, प्रभास आदित्य है, ध्रुव द्यौ है, सोम चन्द्रमा है, प्रत्यूष नक्षत्र है। इन्ही आठो का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

"अग्निश्च–पृथिवी च। वायुश्चान्तरिक्षं च। आदित्यश्च द्यौश्च। चन्द्रमा च नक्षत्राणि च एते वसवः। एतेषुहीदं वसु सर्व हितम्" (शत० ११।६।३।६) इति।

नौ–चौदह–इक्कीस–तैतीस भेद मे पार्थिवलोक चार भागो मे विभक्त है। इन चारो को क्रमश पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ–नक्षत्र इन नामो से व्यवहृत किया जाता है। नक्षत्र आपोमय है अतएव कही-कही नक्षत्र को "अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आप" इत्यादि के अनुसार **आपः** भी कह दिया गया है। इन चारो लोको के सञ्चालक क्रमश अग्नि–वायु–आदित्य–चन्द्रमा ये चार लोकी है, लोकाध्यक्ष है। लोकाध्यक्षयुक्त चारो लोक ही सब की आवासभूमि है, बासभूमि है, अतएव इन आठो को हम अवश्य ही **"वसु"** कहने के लिए तय्यार है। पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ–आप इन चारो का परस्पर तानूनप्त्र होता है। चारो का चारो मे मिल जाना ही तानूनप्त्र है। इन चारो मे मूल पृथिवी है। आठो रूप एक ही अग्नि के है, अग्नि त्रिवृत् स्थानीय है, अतएव पृथिवीयुक्त उक्त आठो को पार्थिव देवता ही मान लिया जाता है। इन

आठ के सम्बन्ध से छन्दोविज्ञान के अनुसार पार्थिव अग्नि को (अष्टवसुरूप अष्टाक्षर गायत्री छन्द से छन्दित होने के कारण) गायत्र नाम से व्यवहृत किया जाता है, एव इसी अष्टाक्षर सम्बन्ध से पृथिवी को गायत्र-लोक कहा जाता है। अष्टधा विभक्त आङ्गिरसपार्थिव अग्नि की विभूतियो का यही सक्षिप्त निदर्शन है—

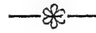
❀

क्ष ... त्रम् — धनावस्थापन्नः विद्युत्स्थानीयः पार्थिवाग्नि

वि ... श — अष्टौ वसव

१	अग्नि	अनल
२	पृथिवी	धर
३	वायु	अनिल
४	अन्तरिक्षम्	आप
५	आदित्य	प्रभास
६	द्यौ	ध्रुव
७	चन्द्रमा	सोम
८	नक्षत्राणि	प्रत्यूष

❀



वायुविभूति परिचय—

वायु एव आदित्य दोनो अग्नि की अवस्था विशेष है। ब्राह्मण श्रुति मे अग्नितत्त्व की **रुद्र–वरुण–इन्द्र–मित्र–ब्रह्मा** ये पाँच अवस्थाएँ मानी है। अग्नि की प्रदीपावस्था से आरम्भ कर उपशमनावस्था पर्यन्त श्रुति ने उक्त पाँचो अवस्थाओ का प्रत्यक्ष करवाया है। जिस समय प्रथम अग्नि को प्रज्वलित किया जाता है तो उस क्षण सहसा प्रबल वेग से ज्वाला निकल पडती है। ज्वाला निकलने से पूर्व फूत्कार करते-करते सहसा वेग से ज्वाला निकल पड़ती है। इस प्रथम ज्वाला के ताप मे सूक्ष्मता रहती है। सन्ताप का अनुभव होता है। यह

रुद्रदेव[१] के साक्षात् दर्शन है । प्रथम ज्वाला के अनन्तर क्रमश ज्वाला प्रवृद्ध होती है, ज्वाला-वेग बढ जाता है । इस प्रदीप्ततर अवस्था को ही वरुण कहा जाता है । आन्तरिक्ष्य अब्गर्भित सोमसम्बन्ध से ही ज्वाला प्रवृद्ध होती है एव वरुण अप्तत्त्व के अधिष्ठाता है अतएव अग्नि की इस द्वितीयावस्था को **वरुण**[२] नाम से व्यवहृत किया जा सकता है । जिस प्रकार दीपार्ची शान्त होने से कुछ पूर्व अपनी पूर्वावस्था की अपेक्षा अधिक प्रकाशशालिनी बन जाती है उसी प्रकार सशमनावस्था से पूर्व अपनी पूर्वावस्था की अपेक्षा यह अग्निज्वाला परम वेग से **धगत्-धगत्** शब्द करती हुई प्रज्वलित हो जाती है । इसी अवस्था का नाम **"ईन्धे"** इस निर्वचन के अनुसार **इन्द्र**[३] है । अब अग्निज्वाला शान्त होने लगती है तो इसकी सातो अर्चिएँ इतस्तत दिशा-प्रदिशाओ मे फैलने लगती है, इससे अग्नि का सघटन टूट जाता है, अतएव इस अवस्था मे अग्नि-बल शान्त हो जाता है । उग्रता जाती रहती है । ऐसा अग्नि सुहावना लगने लगता है । अग्नि की इसी चतुर्थावस्था को **मित्र**[४] कहा जाता है । अब अग्निज्वाला सर्वथा शान्त हो जाती है तो इस अवस्था मे केवल प्रदीप्त (चमकते हुए) अङ्गारे दहकते है । अग्नि की इसी अन्तिम अवस्था को **ब्रह्म**[५] किवा **ब्रह्मा** नाम से व्यवहृत किया जाता है । "ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा" (शतपथ ६।१।१) के अनुसार आलम्बनतत्त्व को ही **ब्रह्म** कहा जाता है । अङ्गार ही उक्त चारो अवस्थाओ के उपादान थे, यही चारो की उपसहार-भूमि बनती है अत इस अवस्था को बिभर्त्ति सर्व इस निर्वचन के अनुसार अवश्य ही **"ब्रह्म"** शब्द से सम्बोधित कर सकते है । अग्निदेव की इन्ही पाँचो अवस्थाओ का दिग्दर्शन कराती हुई वाजिश्रुति कहती है—

१ "तद्यत्रैतत् प्रथम समिद्धो भवति-धूप्यत इव तर्हि हैष भवति"——————→**"रुद्र."**[१]

२ "अत्र यत्रैतद् प्रदीप्ततरो भवति तर्हि है२ भवति"——————→**"वरुण"**[२]

३ "अथ यत्रैतत् प्रदीप्तो भवति, उच्चैर्धूम परमया नूत्या बल्बलीति तर्हि हैष भवति"→**"इन्द्रः"**[३]

४ "अथ यत्रैतत् प्रतितरामिव तिरश्चीवार्चि सशम्यो भवति, तर्हि हैष भवति"———→**"मित्र"**[४]

५ "अथ यत्रैतदङ्गाराश्चाकाश्यन्त इव, तर्हि हैष भवति"——————→**"ब्रह्म"**[५]

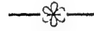
(शत० २।३।२)

अग्नि की उक्त पाँचो अवस्थाओ के जनक क्रमश **वायु–आप–तेज–सोम–प्राण** ये पाँच तत्त्व है । वायु के समन्वय से अग्नि **रुद्रमूर्त्ति** बन जाता है । प्रत्यक्ष मे ही वायुरूप फूत्कार से ही रुद्ररूप (धूमयुक्त) प्रथम अवस्था का उदय होता है । अप् के सम्बन्ध से वही अग्नि वरुण बन जाता है । तेज के सम्बन्ध मे

वही अग्नि इन्द्रावस्था मे परिणत हो जाता है। सोम के सम्बन्ध से वही अग्नि मित्ररूप मे परिणत हो जाता है। तथा प्राण सम्बन्ध से वही सर्वान्त मे ब्रह्मरूप मे परिणत हो जाता है।

—❀— अग्नि एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध

१—रुद्र ———→वायुसयुक्तोऽग्निर्वायुमूर्त्ति ।
२—वरुण ——→अप्-सयुक्तोऽग्निरव्मूर्त्ति ।
३—इन्द्र ———→तेज सयुक्तोऽग्निस्तेजोमूर्त्ति ।
४—मित्र ———→सोमसयुक्तोऽग्नि सोममूर्त्ति ।
५—ब्रह्मा———→प्राणसयुक्तोऽग्नि प्राणमूर्त्ति ।



उपर्युक्त पाँचो अवस्थाओ मे से प्रकृत मे केवल रुद्रावस्था ही अपेक्षित है। ऐसा अग्नि जिसके साथ वायु सम्पृक्त हो गया हो, दूसरे शब्दो मे अग्नि की वह तरलावस्था जा कि घनावस्था को छोड कर वायु-रूप मे परिणत हो गई है रुद्धद्रवण भाव के कारण रुद्र नाम से प्रसिद्ध है। घन भाग रुद्ध है। रुद्ध भाग का द्रुत हो जाना ही रुद्र है, यही वायु है। केन्द्र से निकल कर प्रधि की ओर जाता हुआ अग्नि कुछ दूर तक (त्रिवृतस्तोम पर्यन्त) तो घन रहता है, रुद्ध (अवरुद्ध) रहता है। आगे जा कर पञ्चदशस्तोम स्थानीय विपुल प्रदेश पा कर अपनी रुद्धावस्था से च्युत होता हुआ वही अग्नि वायु रूप मे परिणत हो जाता है। वायु अग्नि की ही द्वितीयावस्था है। ग्रीष्म ऋतु मे प्रचण्ड वेग से बहने वाला सन्तापधर्म्मा वायु ही (जो ब्राह्मणग्रन्थो मे सान्तपन नाम से भी व्यवहृत हुआ है) साक्षात् रुद्र है। अग्नि ही इसका मूल है। इसी आधार पर **"अग्निर्वारुद्र"** इस कथन मे कोई आपत्ति नही उठाई जा सकती। वायुमय अग्नि ही (जिसे राजस्थान **'लू'** नाम से व्यवहृत करता है, मिथिला प्रान्त जिसे **"रौद"** नाम से सम्बोधित करता है) रुद्र का प्रधान स्वरूप है। वायुमय होने से ही रुद्र को अन्तरिक्षायतन माना जाता है। जिस प्रकार घनावस्थ अग्नि की घनता के तारतम्य से पूर्व प्रदर्शित क्रमानुसार आठ अवस्थाएँ होती है, एवमेव तरलता के तारतम्य से इस वायुमय रुद्र की ११ अवस्थाएँ होती है। अग्नि की आठ अवस्थाओ का मूल कारण जैसे अष्टाक्षर गायत्री छन्द था, एवमेव रुद्र की ११ अवस्थाओ का मूल कारण एका-दशाक्षर त्रिष्टुप् छन्द है। त्रिष्टुप् का अन्तरिक्ष से ही सम्बन्ध माना गया है। आठ वसु जैसे विट् (प्रजा) थे, समष्टिरूप अग्नि जैसे क्षत्र था, एवमेव ११ रुद्र विट् रूप है, समष्टि रूप एक **रुद्र** (जिसकी ग्यारह अवस्थाएँ) है, क्षत्र रुद्र है। विट् रूप की अवान्तर असख्य विभूतियो को लक्ष्य मे रख कर जहाँ "सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा" (तै० स० ४।५।११।१) यह कहा जाता है, क्षत्र-रुद्र के एकत्व को लक्ष्य मे रख कर "एको रुद्रो न द्वितीयायावतस्थे" यह कहा गया है। रुद्र के इन्ही क्षत्र एव विट् दोनो रूपो को लक्ष्य मे रख कर सचिति यज्ञ प्रकरण मे "नमस्ते रुद्र मन्यवे" इत्यादि मन्त्र का व्याख्यान करती हुई वाजि श्रुति कहती है—

"स एष क्षत्रं देवः, यः स शतशीर्षा समभवत् ।
विश इमऽइतरे ये विप्रुड्भ्यः समभवन् ।" (शत० ७।१।१।१५)

उक्त विट् रुद्र (अधिदैवत सस्था मे) निम्नलिखित नामो से प्रसिद्ध है—

क्ष ❀ वि

तरलावस्थापन्न —पञ्चदशस्तोम स्थानीय वायुमयोऽग्निरुद्र	१	विरूपाक्ष	एकादश रुद्रा
	२	रैवत	
	३	हर	
	४	बहुरूपः	
	५	त्र्यम्बक	
	६	भूतेश.	
	७	जयन्त	
	८	पिनाकी	
	९	अपराजित.	
	१०	अजएकपात्	
	११	अपपतन	

त्रम् ❀ श

पुराणशास्त्र जहाँ **ब्रह्मा–विष्णु–महेश** इस त्रिदेववाद को प्रधानता देता है वहाँ श्रौतसिद्धान्त के अनुसार **ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–अग्नि–सोम** भेद से **पञ्चदेववाद** को ही मुख्य स्थान दिया जाता है। इस

स्थिति मे साधारण मनुष्यो को यद्यपि उक्त निगम (वेद) आगम (पुराण) सिद्धान्तो मे परस्पर विरोध प्रतीत होता है, परन्तु वैज्ञानिको की दृष्टि मे अणुमात्र भी विरोध का अवसर नही है। अग्नि-सोम का समन्वय यज्ञ है। यज्ञसयुक्त इन्द्र ही शिव किवा महेश है। रुद्र-तत्त्व का जब भी हम साक्षात्कार करेगे, हमे उसके साथ इन्द्र-सोम का सम्बन्ध मिलेगा। इन्द्र से सूर्य्य उपलक्षित है। सोम चन्द्रमा का द्योतक है, स्वय रुद्र अग्नि है। विश्व को प्रकाशित करने वाली ये तीन (अग्नि–चन्द्र–सूर्य्य किवा अग्नि–सोम–इन्द्र) ज्योतिएँ है। ये ही लोकसाक्षी, दूसरे शब्दो मे लोकद्रष्टा है। अग्नि–सोम–इन्द्रात्मक शिव के ये ही त्रिनेत्र है। श्रुति शिवतत्त्व का पृथक्-पृथक् कला-विभाग बतलाती हुई इन्द्र–अग्नि–सोम तीनो का पृथक् निर्देश करती है, एव पुराण तीनो की समष्टि का निरूपण करता हुआ तीनो को शिव शब्द से व्यवहृत करता है। इस प्रकार दोनो के सिद्धान्तो मे कोई विरोध नही रहता।

रुद्र-प्राण के सम्बन्ध से ही पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ–समष्टि रूपा त्रिलोकी **"रोदसी"** कहलाती है। इसी आधार पर रोदसी को **"रुद्रपत्नी"** कहा जाता है। रोदसी त्रिलोकी मे व्याप्त घन-भावो को, अवरुद्ध भावो को, तरल भावापन्न रुद्राग्नि द्रुत किया करता है, अतएव यह तत्त्व रुद्र कहलाता है, जैसा कि प्रकरण के प्रारम्भ मे बतलाया जा चुका है। जितने भी पार्थिव पशु है सबका आत्मा वायु-तत्त्व ही है। आरण्य-ग्राम्य दोनो पशु वायव्य है। यही कारण है कि पशु से भी अधिक मात्रा मे चेतना रखने वाला मनुष्य उत्पन्न होने के पश्चात् एक सवत्सर पर्यन्त स्व प्रतिष्ठा से खडा नही हो सकता। कारण इसमे पार्थिव घनाग्नि की प्रधानता है। परन्तु एक गोवत्स उत्पन्न होते ही कूदने-फादने लगता है। यह उसी वायव्य तत्त्व के अनुग्रह का फल है। पशुओ के इसी वायव्य को लक्ष्य मे रख कर **"इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो व सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे"** यह कहा जाता है। इधर रुद्र-तत्त्व वायुप्रधान है। वायव्य पशुओ का निग्रहानुग्रह रुद्र पर ही निर्भर है, अतएव रुद्र भगवान् **"पशुपति"** नाम से प्रसिद्ध हैं। पार्थिव प्राणाग्नि की अपान-समान भेद से दो अवस्थाएँ है। सौर-प्राण की प्राण-उदान ये दो अवस्थाएँ है। हृदय से ऊपर इन दोनो का साम्राज्य है, हृदय से नीचे पार्थिव-प्राण का प्रभुत्व है। इन चारो को गति-आगतिशील बनाते हुए इनकी स्वरूप-रक्षा करना हृदयस्थ व्यान का कार्य है। यह व्यान-वायु आन्तरिक्ष्य होने से साक्षात् रुद्र है। कर्म्मचतुष्टयी (प्राण-उदान-अपान-समान व्यापार के) प्रेरक होने से रुद्र को चतुर्हस्त कहा जाता है। हस्त कर्म्म का निदान है। वरुण-प्रधान दूषित आप्य-प्राण को नष्ट करने के कारण ही रुद्र देवता **"शूलपाणि" "शूलहस्त" "पशुहस्त"** इत्यादि नामो से प्रसिद्ध है। विधिवत् आराधना करने से यही उग्रमूर्त्ति रुद्र शिव स्वरूप मे परिणत हो कर, सम्पूर्ण आपत्तियो को दूर कर पीडित उपासक की रक्षा करते है, अतएव इन्हे **अभय-हस्त** कहा जाता है। स्वस्थ उपासको का अभ्युदय, श्री-वृद्धि करने के कारण इन्हे **वरहस्त** कहा गया है। इन कुछ एक स्थूल धर्म्मो के अतिरिक्त रुद्र देवता के कई एक ऐसे सूक्ष्म कर्म्म है जिनका साक्षात्कार हमारी स्थूल बुद्धि नही कर सकती। वे सब सूक्ष्म धर्म्म हम साधारण मनुष्यो के लिए मृग्य (खोजने योग्य) है। इन मृग्य भावो के दर्शक होने से, दूसरे शब्दो मे गुहानिहित (गुह्य) मृग्य कार्यो के पवर्त्तक होने से, इन्हे **"मृगहस्त"** कहा जाता है। इस

१ २ ३ ४ ५

रुद्र देवता का विकास **अधियज्ञ–अधिभूत–अध्यात्म–अधिदैवत–अध्यन्तरिक्ष** इन पाँच स्थानो मे होता है।

रुद्र-विकास के पाँच रुख है, इसी आधार पर इन्हे **"पञ्च-वक्त्र"** नाम से व्यवहृत किया जाता है। अग्नि-चन्द्र-सूर्य्य इन तीन ज्योतियो के कारण यह **"त्रिनेत्र"** नाम से प्रसिद्ध है। सर्पणधर्म्मा वायु ही इनका प्रातिस्विक भूषण है। निम्नलिखित तालिका से रुद्र देवता के पाँचो विवर्त्तो का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। अश्वत्थ नाम से प्रसिद्ध द्यु-वृक्ष के नीचे रोदसी त्रैलोक्य है। रोदसी त्रैलोक्य भूत-प्रधान है। यहीं भूतपति विराजमान है, जैसा कि पूर्व-प्रकरणो मे विस्तार से बतलाया जा चुका है।

	१	२	३		४	५
१	कृशानु (आहवनीयाग्नि)	पृथिवीमूर्त्ति शिव	श्रोत्रम्	श्रोत्रम्	विरूपाक्षः	अभ्राजमान
२	प्रवाहण (धिष्ण्याग्नि)	जलमूर्त्ति शिव	श्रोत्रम्	त्वक्	रैवत.	व्यवदातः
३	दुवस्वान् (धिष्ण्याग्नि)	तेजोमूर्त्ति शिवः	चक्षु॰	चक्षु	हर.	वासुकिः
४	बम्भारि (धिष्ण्याग्निः)	वायुमूर्त्ति शिव.	चक्षु	जिह्वा	बहुरूप	वैद्युतः
५	कवि (धिष्ण्याग्नि)	आकाशमूर्त्ति शिव	प्राण	घ्राणम्	त्र्यम्बकः	रजतः
६	विश्ववेदा (धिष्ण्याग्नि)	सूर्य्यमूर्त्ति शिव	प्राण	वाक्	भूतेशः	परुषः
७	हव्यवाहन (धिष्ण्याग्नि)	चन्द्रमूर्त्ति शिव	वाक्	पाणी	जयन्त.	श्याम
८	प्रचेता (धिष्ण्याग्नि)	विद्युन्मूर्त्ति शिव	उपस्थम्	पादौ	पिनाकी	कपिल.
९	मार्जालीय (धिष्ण्याग्नि)	पवमान घोर॰	पायु	उपस्थम्	अपराजितः	अलोहित॰
१०	अजएकपात् (नूतनगार्हपत्य)	पावक घोर	नाभि॰	पायु	अजएकपात्	ऊर्ध्वः
११	अहिर्बुध्न्य (पुराणगार्ह)	शुचि घोर	आत्मा	आत्मा	अवपतन.	अवपतनः
	इत्यधियज्ञमुखा १	इत्यधिभूतमुखा २	इत्यध्यात्ममुखा ३		इत्यधिदैवतमुखा ४	इत्यध्यन्तरिक्ष मुखा. ५

आदित्य विभूति स्वरूप परिचय—

भू-केन्द्र से आरम्भ कर त्रिवृत्स्तोम पर्य्यन्त घनाग्नि की सत्ता है, पञ्चदशस्तोम पर्य्यन्त तरलाग्नि (वायु) का साम्राज्य है, एव एकविशस्तोम पर्य्यन्त विरलाग्नि (आदित्य) व्याप्त है। विरलावस्थापन्न पार्थिव अग्नि ही अदिति के सम्बन्ध से आदित्य नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। पृथिवी का भाग जो सूर्य्य की ओर रहता है, अदिति नाम से प्रसिद्ध है। विरुद्धभाव दिति नाम से व्यवहृत हुआ है जैसा कि **"प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्"** मे विस्तार से बतलाया जा चुका है। अदिति के सम्बन्ध से विरलाग्नि को प्रकृत मे आदित्य बतलाया गया है। इस सम्बन्ध मे एक प्रश्न उपस्थित होता है। भू-पृष्ठ से प्रारम्भ कर एकविशस्तोमपर्य्यन्त अदिति का साम्राज्य है। उक्त तीनो ही अग्नि इस अदिति के गर्भ मे प्रविष्ट है। ऐसी अवस्था मे घन–तरल–विरल तीनो ही अग्नियो को आदित्य शब्द से व्यवहृत करना चाहिए। ऐसा न कर केवल विरलाग्नि को ही आदित्य शब्द मे क्यो व्यवहृत किया गया ? इस प्रश्न के सम्बन्ध मे हम यही कहेगे कि अदिति का अदितिपना सौर-प्रकाश पर निर्भर है। सौरतत्त्व ही आदित्य है। इसी की व्याप्ति के कारण सूर्य्य-सम्मुख रहने वाला पार्थिव अर्द्धमण्डल "अदिति" कहलाता है। यद्यपि घनाग्नि-तरलाग्नि दोनो मे भी इस सौर आदित्य प्रकाश की सत्ता है परन्तु प्रधानता इसकी विरलाग्नि मण्डल मे ही है। कारण **"एकविशो वा इत आदित्य"** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार पृथिवी के २२वे अहर्गण पर सूर्य्य-रूप आदित्य है, उधर १५ से २१ पर्य्यन्त विरलाग्नि का प्रभुत्व है। इसी सान्निध्य के कारण घनाग्नि एव तरलाग्नि को आदित्य शब्द से व्यवहृत न कर केवल विरलाग्नि को ही आदित्य कहा जाता है। अग्नि-वायुवत् विरलावस्था के तारतम्य से इस आदित्य के भी अवान्तर २२ भेद हो जाते है। उसका मुख्य कारण है—**जगतीछन्द**। आदित्य जगतीछन्द से वेष्टित रहता हे। जगतीछन्द १२ अक्षर का है। द्वादशाक्षर जगती छन्द के १२ अक्षरो के कारण ही आदित्य को १२ अवस्थाओ मे परिणत होना पडता है। आदित्य की वे द्वादश अवस्थाएँ निम्नलिखित नामो मे प्रसिद्ध है।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७
इन्द्रो–धाता–भगः–पूषा–मित्रोऽथ वरुणोऽर्यमा।
८ ९ १० ११ १२
अंशुर्विवस्वान्–त्वष्टा च सविता विष्णुरेव च ॥

सौर-प्राण १२ महीनो मे विभक्त रहता है। मासावच्छिन्नप्राण एक आदित्य है। इस प्रकार द्वादश-मास के द्वादश आदित्य हो जाते है। मासावच्छिन्न सौर रश्मिएँ पार्थिव रसो का आदान करती हुईं (रसो का शोषण करती हुई—लेती हुई) प्राणदपानत् व्यापार से आगे चलती है, इसलिए भी रश्म्यवच्छिन्नमासात्मक इन सौर-प्राणो को आदित्य शब्द से व्यवहृत किया जाता है। (देखिए बृ०आ०उ० ३।९।५)।

चन्द्र-कक्षा दक्ष नाम से प्रसिद्ध है। चान्द्रसोम ही पार्थिव प्रजा का उपादान है, अतएव चान्द्र सोममय दक्षमण्डल को दक्ष-प्रजापति कहा जाता है। आदित्य सम्बन्ध से इस दक्ष-कक्षा के १२ विभाग हो जाते है। आदित्य-प्राण कूर्म्म-प्राण मे परिणत होकर ही सृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है—

"एत द्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत। यदसृजत अकरोत् तत्, यदकरोत् तस्मात् कूर्म्मः"। (शतपथ ७।५।१।५)

कूर्म्म ही त्रैलोक्य का द्रष्टा होने से, **पश्यक** होने से परोक्ष भाषा मे **कश्यप** नाम से प्रसिद्ध है। द्वादशप्राणमूर्त्ति (यदि मलिम्लुच नाम से प्रसिद्ध अधिकमास का भी ग्रहण कर लिया जाता है तो त्रयोदश-प्राणमूर्त्ति) कश्यप प्रजापति के सम्बन्ध से दक्षवृत के १२ अथवा १३ विभाग हो जाते है। दाक्षायणी नाम से प्रसिद्ध ये ही कश्यप की पत्निएँ है। दक्षवृत्त सोमप्रधान होने से योषा (स्त्री) है। आग्नेय-प्राण प्रधान कश्यप वृषा (पुरुष) है। दोनो के मिथुन से ही सब कुछ उत्पन्न होता है, एव हुआ है। **"कश्यपात् संकलं जगत्" "सर्वा प्रजा काश्यप"** इत्यादि वचन प्रसिद्ध है। सर्प–देवता–पशु–पक्षि–मनुष्य–दैत्य आदि सब इसी कश्यप से उत्पन्न हुए है। रेतोधा कश्यप पिता एक है योनिरूप प्राण कद्रू-विनता-दिति-अदिति-दनु-काला-सज्ञा आदि भेद से भिन्न-भिन्न है। अस्तु इस व्याख्यान को विस्तृत करना अप्राकृत होगा। यहाँ केवल यही बतलाना है कि अग्नि की विरलावस्था ही आदित्य है। समष्ट्यात्मक एक आदित्य **क्षत्र** है। इसे इन्द्र नाम से व्यवहृत किया जाता है। इस क्षत्र आदित्य की अवान्तर अवस्थाएँ ही १२ आदित्य है। ये **विद् रूप** है। द्वादशधा विभक्त आङ्गिरस पार्थिव आदित्य–विभूति का यही सक्षिप्त निर्दशन है।

क्ष ❀ वि

विरलावस्थापन्न —दिव्याग्निरादित्य —एकविंशस्थानीय			द्वादश-आदित्या
	१	इन्द्र	
	२	धाता	
	३	भग	
	४	पूषा	
	५	मित्रः	
	६	वरुण	
	७	अर्य्यमा	
	८	अशु	
	९	विवस्वान्	
	१०	त्वष्टा	
	११	सविता	
	१२	विष्णुः	

त्रम् ❀ शः

इस प्रकार भू-गर्भ से निकल कर एकविंशस्तोम स्थानीय द्यु पृष्ठपर्य्यन्त व्याप्त रहने वाला एक ही अग्निदेव प्रथम-प्रथम घन-तरल-विरल अवस्था-भेद से अग्नि-वायु-इन्द्र इन तीन स्वरूपो मे परिणत हो जाता है, एव आगे जा कर घन-तरलादि अवस्थाओ के अवान्तर तारतम्य से तीन के ३१ देवता (८ वसु-११-रुद्र-१२-आदित्य) हो जाते है। द्यावा-पृथिवी के सम्बन्ध से ३३ हो जाते है। यदि इनकी अवान्तर महिमाओ की गणना की जाती है तो देवता असख्य है। वस्तुत **"अग्नि. सर्वा देवता."** यही फलितार्थ है—**"अग्नि पुरोगा सर्वे देवाः प्रीयन्ताम् ।"** इन ३१ देवताओ के उपक्रम मे भू है, उपसहार मे द्यौ है। मध्य के ३१ देवताओ मे से अग्नि पहिला है। विष्णु सब के अन्त मे है जो सबसे बडा होता है, विज्ञान-दृष्टि से वही सबसे छोटा है। **"जो सबसे छोटा होता है, वही सबसे बड़ा माना जाता है"** इस विज्ञान सिद्धान्त के अनुसार ३१ के आदि मे रहने वाले अग्नि देव सबसे अवम होते हुए भी **अग्रगामी** (श्रेष्ठ-महान) कहलाते है, एव सर्वान्त मे रहने वाले सबने परम (बडे) होते हुए भी विष्णु-देव **वामन** (छोटे-बौने) कहलाते है। इस छोर मे अग्नि हे, उस छोर मे विष्णु है। मध्य मे सब देवता हे। यही सवत्सर रूप ज्योतिष्टोम यज्ञ है। अतएव ज्योतिष्टोम की दीक्षा के लिए दीक्षणीएष्टि करता हुआ यजमान आग्नावैष्णवएकादशकपालपुरोडाश का निर्वाप करता है। इसी आधार पर श्रुति कहती है—

"अपः प्रणीय-आग्नावैष्णवमेकादशकपालं पुरोडाशं निर्वपति। अग्निर्वै सर्वा देवताः। अग्नौ ही सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति। अग्निर्वै यज्ञस्यावरार्ध्यो विष्णुः परार्ध्यः। तत् सर्वाश्चैवैतद्देवताः परिगृह्य, सर्वं च यज्ञं परिगृह्य दक्षा इति। तस्मादाग्नावैष्णवएकादशकपालः पुरोडाशो भवति"। (शत० ३।३।१)

"अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः❀ परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः"।
(ऐ०ब्रा० १।१)

प्रसङ्गागत पूर्वोक्त द्वादश प्राणो की विभिन्न शक्तियो का जान लेना भी आवश्यक होगा। उन १२ शक्तियो का स्वरूप ही पाठको के सम्मुख उपस्थित किया जाता है।

❀एक बार किसी भारतीय विद्वान् ने पश्चिमी विद्वानो की पद्धति का अनुकरण करते हुए उक्त श्रुति का अर्थ करते हुए लिखा था कि "किसी समय भारतवर्ष मे अग्निपूजा का महत्त्व कम हो गया था, एव विष्णु ही सबसे प्रधान देवता माने जाने लगे थे। उस स्थिति को लक्ष्य मे रख कर ऐतरेय ने अग्नि को अवम (छोटा) विष्णु को परम (बडा) देवता बतलाया है।" यह है आजकल के वेदज्ञो का अन्वेषण, पाठक विचार करे, क्या यह उच्छिष्टभोग कभी हमे वेदार्थ के 'वास्तविक दृष्टिकोण से परिचित करा सकेगा ?

	१२ विष्णु
३१	११ सविता
३०	१० विवस्वान्
२९	९ त्वष्टा
२८	८ अंशु
२७	७ अर्यमा
२६	६ वरुण
२५	५ मित्र
२४	४ पूषा
२३	३ भग
२२	२ धाता
२१	१ इन्द्र
२०	११ विरूपाक्ष
१९	१० रैवत
१८	९ हर
१७	८ बहुरूप
१६	७ त्र्यम्बक
१५	६ सुरेश
१४	५ जयन्त
१३	४ पिनाकी
१२	३ अपराजित
११	२ अजएकपाद
१०	१ उग्रपन्न
९	८ प्रत्यूष
८	७ सोम
७	६ ध्रुव
६	५ प्रभास
५	४ अनल
४	३ अनिल
३	२ धरा
२	१ अनन्त

१—इन्द्रः

हमारे शरीर मे जो एक प्रकार के सहोबल का सञ्चार हो रहा है, जिस बल के आधार पर हम कठिन से कठिन कार्य का भार उठाने का साहस कर बैठते है, जिस सहोबल के प्रभाव से हमारे शरीर मे एक प्रकार की स्फूर्त्ति रहती है, जो सहोबल शरीर को तना हुआ रखता है, वही बल किवा शक्ति 'इन्द्र-शचि' है। जिस शक्ति के आधार पर ज्ञानेन्द्रियो एव कर्मेन्द्रियो का सञ्चार होता है, जिस शक्ति के आधार पर हम अन्य व्यक्तियो पर शासन करने मे समर्थ होते है वही '**इन्द्र**' है। जिस शक्ति से शारीर रसासृक्-मासादि धातुओ का सञ्चार होता है, दूसरे शब्दो मे शरीर मे जो गति-भाव रहता है वह इसी इन्द्र-प्राण की महिमा है। जिस शक्ति के आधार पर शरीराग्नि **उर स्थान—कण्ठ स्थान—शीर्षस्थान** से टकरा कर क्रमश **अनुदात्त—स्वरित—उदात्त** स्वरो से युक्त होता हुआ क—च—ट—त—प आदि रूपा वर्णवाक् मे परिणत होता है, वह यही इन्द्र है। जिस शक्ति के प्रभाव से **प्रज्ञानमन** मे एक प्रकार का चाञ्चल्य रहता है, वह विद्युन्मूर्त्ति यही इन्द्र है। जिस शक्ति से विज्ञानात्मा (बुद्धि) गुहानिहित सुसूक्ष्म विपयो मे प्रविष्ट होता है, वह यही **मघवा** इन्द्र है। जिस शक्ति के प्रसार से चक्षुरिन्द्रिय रूप-दर्शन मे समर्थ होता है, "रूपरूप-मघवा बोभवीति" "इन्द्रो रूपाणि करिक्रदचरत्" इत्यादि के अनुसार वह शक्ति यही मघवेन्द्र है। अधिदैवत **मण्डल** मे हम जो विद्युत-प्रकाश देखते है एव सूर्य्यचन्द्रमादि मे जो प्रकाश देखते है वह सब इन्द्र का ही कर्म्म है। पर्जन्य की सहायता से वृष्ट्यवरोधक **नमुचि-प्राण** को श्लथ कर वृष्टि करना इसी इन्द्र-प्राण का काम है। भौतिक पदार्थो मे रहने वाले वारुण दूषित भावो को नष्ट करना वायुगत, अतएव **मरुत्वान्** नाम मे प्रसिद्ध इसी इन्द्र का काम है। तत्तत् कर्म्मभेद से ही इस इन्द्र* की चौदह अवस्थाएँ हो जाती है। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व मे **अधिदैवत—अध्यात्म—अधिदैवत** तीनो प्रपञ्चो मे जो एक बलप्रद शक्ति उपलब्ध होती है, जिसकी सत्ता से तत्तत् पदार्थ स्वस्वरूप मे सुरक्षित मे समर्थ होते है, वह बलतत्त्व ही **इन्द्र** है। इसी विज्ञान के आधार पर इन्द्रतत्त्व का सामान्य लक्षण करते हुए यास्काचार्य कहते है—

"या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्म्मैवतत्" (निरुक्त ७।३)

इन्द्र के उपर्युक्त स्वरूप धर्म्मो का प्रतिपादन करते हुए ही निम्नलिखित श्रौतवचन सामने आते है—

१—**"इन्द्रो बलं बलपतिः"** (शत० ११।४।३।१२)।
२—**"इन्द्रो मे बले श्रितः"** (तै०ब्रा० ३।१०।८।८)।
३—**"वीर्य्यं वा इन्द्रः"** (ता०ब्रा० ६।७।५।८)।
४—**"इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतमः"** (ऐ०ब्रा० ७।१६)।

*इन चौदह इन्द्रो का विशद वैज्ञानिक विवेचन "**ब्रह्मविज्ञान**" नाम के ग्रन्थ मे द्रष्टव्य है।

५—**"इन्द्रौजसांपते"** (तै०ब्रा० ३।११।४।१)।

६—**"अथ य इन्द्रस्सा वाक्"** (जै०उ०ब्रा० १।३३।२)।

७—**"यन्मनः स इन्द्रः"** (गो०ब्रा०उ० ४।११)।

८—**"क्षत्रं वा इन्द्रः"** (कौ० १२।८)।

९—**"स्तनयित्नुरेवेन्द्रः"** (शत० ११।६।३।६)।

१०—**"मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधातु"** (शत० १।८।१।४२)।



२—धाता

प्रत्येक पदार्थ मे एक प्रकार की प्रतिष्ठा (स्थिति ठहराव) देखी जाती है। यदि पदार्थ मे से यह प्रतिष्ठातत्त्व निकल जाता है तो वह कम्पित हो जाता है। इस प्रतिष्ठा-तत्त्व का स्वरूप-निर्म्माण **वषट्कार** से होता है। प्रत्येक पदार्थ पिण्ड के केन्द्र से निकल कर ४८ स्तोमपर्यन्त अपना महिमामण्डल बनाने वाला वाङ्मण्डल ही त्रिवृत्पञ्चदशादि ६ वाक्स्तोमो के कारण "वषट्कार" नाम से व्यवहृत हुआ है। **"देवपात्र वा एष वषट्कार"** के अनुसार यही वषट्कार उस वस्तु का पात्ररूप आलम्बन है। "तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्" इस शतपथवचन के अनुसार वषट्कार वाङ्मय बनता हुआ प्राणाग्निमय है। यही प्रतिष्ठा तत्त्व है, वस्तु को धारण करने वाला धाता है। **पञ्चप्रकृतिविज्ञान** के अनुसार सूर्य्यवाक् प्रकृति स्थानीय है। सूर्य्य का यह वाक् भाग किंवा प्राणाग्नि ही वषट्कार का स्वरूप सम्पादक बनता है। सूर्य्य का वह वाङ्मयप्राण जो कि वषट्कार का स्वरूपसम्पादक बनता हुआ पदार्थ को धारण करने वाली प्रतिष्ठा बनता है, वही "**धाता**" है। इसी धाता का स्वरूप-धर्म्म बतलाते हुए निम्नलिखित **निगम** श्रुतिएँ हमारे सामने आती है—

१—**"देवपात्रंवाऽएष यद्वषटकारः"** (शत० १।७।२।१३)।

२—**"एष वै वषट्कारो य एष तपति"** (शत० १।७।२।११)।

३—**"यः सूर्य्यः स धाता, स उ एव वषट्कारः"** (ऐत०ब्रा० ३।४८)।

४—**"प्राणो वै वषट्कारः"** (ऐ०ब्रा० ३।४७)।

५—**"यो धाता स वषट्कारः"** (ऐ०ब्रा० ३।४७)।

६—**"अग्निर्वै धाता"** (तै०ब्रा० ३।३।१०।२)।

७—**"यत् (प्रजापतिर्दिक्षु पतिष्ठायेदं सर्व)–दधत्–विदधत् अतिष्ठत् तस्माद्धाता"** (शत० ६।५।१।३५)।

८—**"स यः स धाता असौ स आदित्यः"** (शत० ६।५।१।३७)।

९—**"संवत्सरो वै धाता"** (तै०ब्रा० १।७।२।१)।

१०—**"वाक् संवत्सरः"** (ता० १०।१२।७)।

३—भगः

प्रत्येक पदार्थ मे एक प्रकार की श्री (शोभा-विकास) देखी जाती है। वृक्षो का सौदर्य देखिए शाखा-प्रशाखा-पत्र आदि अवयवो का विन्यास देखिए, चतुर शिल्पी के हाथ चूमने की इच्छा होती है। उत्पन्न शिशु का मुग्ध भाव देखिए, चन्द्रमा की चन्द्रिका निहारिए, रत्नो मे आभा देखिए, रसो मे उद्गीथ देखिए, वेदो मे साम देखिए, सर्वत्र अपेक्षया आप किसी न किसी प्रकार के सौदर्य (श्री भाव) का अवलोकन करेगे। तत्तत् पदार्थो मे प्रातिस्विक रूप से रहने वाला यह श्री भाव ही तत्तत् वस्तु का **एश्वर्य** है। १२ आदित्य प्राणो मे से जो प्राण ऐश्वर्य प्रदाता है वही विज्ञान भाषा मे **"भग"** नाम से प्रसिद्ध है। **"श्री"** इस भाग का स्वरूप धर्म्म है। यदि श्रीप्रवर्त्तक भग की अवान्तर अवस्थाओ का विचार किया जाता है तो इसके ऐश्वर्य[१]–धर्म्म[२]–यश[३]–श्री[४]–ज्ञान[५]–वैराग्य[६] ये ६ विवर्त्त हो जाते है। पत्नी–सन्तान–भोग्य अन्न–वस्त्र–अनुचर–पशु–क्षेत्र–प्रासादादि द्रव्य **बहिर्वित्त ऐश्वर्य** है। नित्यसिद्ध प्राकृतिक नियम-सघ धर्म्मी को स्वस्वरूप मे धारण करने के कारण **धर्म्म** है। सर्वत्र गुणख्याति **यश** है। शरीर शोभा **श्री** है। सदसद्विवेक **ज्ञान** है। विषयो का अनासक्तिपूर्वक भोग **वैराग्य** है। भग की इन्ही छओ अवस्थाओ का दिग्दर्शन कराते हुए अभियुक्त कहते है—

ऐश्वर्यस्य च समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणः ॥

जिस व्यक्ति मे उक्त छओ भगो का पूर्ण विकास रहता है, नर-देहधारी वह पुरुष श्रेष्ठ ही **"भगवान्"** कहलाता है। इसी अभिप्राय से आप्तपुरुष कहते हे कि **"वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति"**।

इस भग-प्राण को कोश (खजाना) उत्तरफल्गुनी नक्षत्र माना गया हे। इस नक्षत्र पर दृष्टि-निक्षेप करने से **भगप्राण** आत्मसात् हो जाता है। ऐश्वर्य की वृद्धि होती है (द्रष्टव्य तै ब्रा १।१।२।४)।

निष्कर्ष यही हुआ कि सासारिक वैभव, किवा ऐश्वर्य जिस सौर प्राण से सम्पन्न होता है वही भग है। अनासक्तिभाव मे जो भग (सासारिक वैभव) भगवत् सम्पत्ति का कारण बनता है आसक्तिभाव मे वही भग आत्मज्योति को तिरोहित कर देता है । भग की छओ कलाओ मे से आत्मा को आवृत करनेवाली प्रधान कला ऐश्वर्य ही है। इसी आवरण सम्बन्ध से भग देवता को **अन्ध** कहा जाता है । भग के इन्ही स्वरूप धर्मों को लक्ष्य मे रख कर श्रुति कहती है—

१—**"तस्य चक्षुः परापतत्–तस्मादाहुरन्धो वै भग इति"** (कौ ब्रा ६।१३) ।

२—**"भगस्य वा एतन्नक्षत्रं यदुत्तरे फल्गुनी"** (तै ब्रा १।१।२।४)।

—**—

४—पूषा

ज्ञान-क्रिया-अर्थ–शक्तिधनसूर्य्य अपने प्रवर्ग्य भाग से रोदसी त्रिलोकी मे रहने वाली प्रजा के ज्ञान-क्रिया-अर्थ भावो का उत्पत्ति-स्थिति-लयस्थान है । सौरमण्डल से उक्त तीनो शक्तिएँ पार्थिव-प्रजा मे समष्टि रूप से आती है । समष्टिरूप मे आने वाले इस सौर-प्रवग्यन्ति को (ज्ञान–क्रिया–अर्थो को) तत्तत् पदार्थो मे वैयक्तिक रूप से विभाजित करने वाला सौर-प्राणविशेष ही **"पूषा"** है। इसी आधार पर पूषा को **"भाग धुक्"** कहा जाता है । वह सौर आदित्य (सौरप्राण) जो पार्थिव भूतो का क्रिया का, ज्ञान का अनुग्राहक बनता हुआ पदार्थो के **भूत–क्रिया–ज्ञान भावो** को (सौरभूत–क्रिया–ज्ञान भावो के प्रदान से) पुष्ट करता है, "पुष्णाति सर्वं" इस निर्वचन के अनुसार **"पूषा"** नाम से व्यवहृत हुआ है। ज्ञान–क्रिया–अर्थ तीनो मे पुष्टि का विशेष सम्बन्ध अर्थ (भूत) के साथ ही माना गया है। भूत-भाग को अनात्म्य होने से एव दृष्टिपथ मे आने से "**पशु**" कहा जाता है 'यदपश्यत् तस्मात् पशु ' (शत० ६)।

"इसी आधार पर पूषा-प्राण को पशुओ का भी अधिष्ठाता बतलाया जाता है। पशु-भाव के प्रवर्त्तक इस पूषा-प्राण के सौर–नाक्षत्रिक–पार्थिव भेद से तीन विवर्त्त है। सौर पूषा **"भाग धुक्"** बनता हुआ भूतभाग का मूल जनक है, नाक्षत्रिक पूषा तत्त्व रेवती नक्षत्र नाम से प्रसिद्ध है। "पूष्णो हस्ताभ्याम्" (तै०स० ४।४।१०।३) से रेवती ही अभिप्रेत है। पार्थिव पूषाभाग शूद्र वर्ण का अधिष्ठाता है **शौद्र वर्णमसृजत पूषणम्"** (शत० १४।४।२।२५) । पूषा देवता घनभावशून्य है, तरल है, अतएव इसे **अदन्तक** कहा जाता है । भगप्राण **श्री** का अधिष्ठाता है, परन्तु बिना पुष्टिप्रवर्त्तक भूतप्रधान पूषा को **भगपति** माना जाता है (शत० ११।४।३।१५)। पोषक प्राण ही पूषा है। पूषा प्राण का यही सक्षिप्त निदर्शन है। निम्नलिखित श्रौतवचन उक्त अर्थ का सही स्पष्टीकरण करते है—

१—**"पुष्टिर्वै पूषा"** (तै० ब्रा० २।७।२।१) ।
२—**"पशवो हि पूषा"** (शत० ५।२।५।८) ।
३—**"पूषा रेवत्यन्वेति पन्थाम्"** (तै० स० ३।१।२।६)।
४—**"पूषा भागदुघोऽशनं पाणिभ्यामुपनिधाता"** (शत० १।१।२।१७) ।
५—**"तस्मादाहुरदन्तकः पूषा करम्भ भाग इति"** कौ० ६।१३) ।

—**—

५-६—मित्रावरुणौ

सौरद्वादश-आदित्यप्राण लोकालोकपर्य्यन्त व्याप्त है । खगोल मे व्याप्त इस आदित्यप्राण की पूर्व-पश्चिम कपालभेद से **मित्र-वरुण** दो अवस्थाएँ हो जाती है । यह याम्योत्तर रेखा (दक्षिणोत्तर वृत्त) जो रात्रि के १२ बजे, मध्याह्न के १२ बजे को काटती हुई जाती है, वह **उर्वशी** नाम की **अप्सरा** है । विशाल अन्तरिक्ष आपोमय **अर्णव समुद्र** है । सभी (३६०) याम्योत्तर रेखाए इस अर्णव समुद्र के **अप्** मे सरण के कारण **अप्सराएं** है, परन्तु उपर्युक्त मध्यवृत्त सबकी अपेक्षा उरु (विशाल) है अतएव यह मध्यवृत्त उर्वशी नाम से प्रसिद्ध है । इस मध्य-वृत्त से पूर्व की ओर का सम्पूर्ण सौरभाग-पूर्वकपाल है, पश्चिम की ओर का सारा विभाग पश्चिमकपाल है । इस कपालद्वयी मे **"त्वमातथन्तोर्वान्तरिक्षम्"** इस इस ऋग्वैदिक सिद्धान्त के अनुसार सौरयज्ञसमर्पक दिक्साम भरा हुआ है, अतएव उभय कपालावच्छिन्न सोमरस से परिपूर्ण इस खगोल को याज्ञिक परिभाषा मे **द्रोणकलश** (सोमघट) कहा जाता है । पूर्वोक्त उर्वशी रेखा (मध्याह्नवृत्त) पर पूर्व एव पश्चिम दोनो कपालो का सयोग है । पूर्वकपाल मित्र है, पश्चिम कपाल वरुण है । दोनो कपालो का सयोग क्या है मित्रावरुण का उर्वशी अप्सरा के साथ मिथुनभाव मध्याह्नवृत्तरूप उर्वशी मे मित्र-वरुण दोनो प्राणो की अ शात्मना आहुति होती है । यह मैत्रावरुणप्राण स्खलित हो कर कुछ तो घटरूप खगोल मे (क्रान्तिवृत्तावच्छिन्ननाक्षत्रिक एव ग्रह खगोल मे) प्रविष्ट हो जाता है, इससे मध्याकाशस्थ **मत्स्य** नाम का अपूर्व तत्त्व उत्पन्न होता है । दक्षिण भाग मे गिरते हुए मैत्रावरुण प्राण से **अगस्त्यप्राण** एव उत्तर भाग मे गिरे हुए मैत्रावरुण प्राण से **वसिष्ठ प्राण** का उदय होता है । अस्तु इस कथा के विश्लेषण का प्रकृत मे पर्य्याप्त अवर नही है । यहाँ हमे केवल यही बतलाना है कि रात्रि के १२ बजे से दिन के १२ बजे तक सौर प्राण पार्थिव प्रजा की ओर अनुगत रहता है, इतने काल मे सौरप्राण हमारे से (पार्थिवप्रजा से) स्नेह करता है, अतएव एतत्कालावच्छिन्न पूर्वकपालस्थ आदित्यप्राण **"मित्र"** कहलाता है । ठीक इसके विरुद्ध दिन के १२ बजे से रात्रि के १२ बजे तक सौरप्राण पार्थिवप्रजा से वियुक्त होता रहता है, सवृत होता रहता हे, अत एतत् कालावच्छिन्न पश्चिम कपालस्थ आदित्यप्राण को **"वरुण"** नाम से व्यवहृत किया जाता है। अनुकूल भावप्रदाता इन्द्रज्योति सौरप्राण **मित्र** है, प्रतिकूल भाव का अधिष्ठाता आपोमय ही सौरप्राण **वरुण** है । अध्यात्म

सस्था मे ये दोनो प्राण **ऋतु** एव **दक्ष** नाम से प्रसिद्ध है। ऋतु (सकल्प) पर ग्रारूढ होना **दक्षभाव** है ग्रत काल का ग्रधिष्ठाता मित्र है, रात्रि की प्रतिष्ठा वरुण है। कुल्हाड़े से काटी हुई वृक्षशाखा वारुणी है, स्वय गिरी हुई शाखा मैत्री है । यदि ग्राप चावल को विशुद्ध ग्रग्नि से ही परिपक्व करते है तो वह वारुण बनता हुग्रा ग्रासुर हो जाता है, मधुरता नष्ट हो जाती है यदि कुछ काल तक ग्रग्नि से सम्बन्ध करके नीचे उतार कर वाष्प से ही उसका परिपाक करते है तो इस ग्रवस्था मे वह ग्रोदन मैत्र बनता हुग्रा दिव्यान्न बन जाता है, इसमे मधुरता ग्रक्षुण्ण रहती है। दुग्ध मे मित्र का भाग ग्रधिक है, सोम मे वरुण की प्रधानता है । प्राण मित्र है, ग्रपान वरुण है । ग्रापूर्यमाण (शुक्लपक्ष) मित्र है, ग्रपक्षीयमाण पक्ष (कृष्णपक्ष) वरुण है। प्रेमाश्रु का मित्र प्राण से सम्बन्ध है, शोकाश्रु का वरुणप्राण से सम्बन्ध है। ग्रागमन मित्र से सबध रखता है, गमन वरुण से सम्बन्ध रखता है। मित्रावरुण के इन्ही स्वरूप धर्म्मो को लक्ष्य मे रख कर निम्नलिखित श्रौतवचन हमारे सामने ग्राते है—

१—"सर्वस्यह्ये व मित्रो मित्रम्" (ग्रानुकूल्यात्) (शत० ५।३।२।७)।

२—"ग्रहर्वै मित्रो, रात्रिर्वरुणः" (ऐत०ब्रा० ४।१०)।

३—"वरुण्यं वा एतद्यन् मथितं (ग्राज्यम्) ग्रथैतन्मैत्रं यत् स्वयमुदितम्" (शत० ५।३।२।६)।

४—"वरुण्योवाऽएष योऽग्निनाश्रितः ग्रथैष मित्रो य ऊष्माणश्रितः" (शत० ५।३।२।८)।

५—"ग्रर्द्धमासौ (शुक्लकृष्णपक्षौ) मित्रावरुणौ" (ता० २५।१०।१०)।

६—"वरुण्या वा एषा (शाखा) या परशुवृक्णा, ग्रथैषा मैत्री (शाखा) या स्वयंप्रशीर्णा" (शत० ५।३।२।५)।

७—"द्यावापृथिवी वै मित्रावरुणयोः प्रियं धाम" (ता० १४।२ ४)।



७—अर्य्यमा

सौर सस्था मे रहने वाला यह प्राण जो **सौरज्योति–गौ–ग्रायु** तत्त्वो को प्रजोत्पत्ति के लिए देने के लिए बाध्य करता है, दूसरे शब्दो मे सौर भाग का जो प्राण पार्थिव प्रजा को प्रदान करता है, दातृत्व का ग्रधिष्ठाता वही सौरप्राण **"ग्रर्य्यमा"** नाम से प्रसिद्ध है। दान की ग्रोर जो हमारी स्वाभाविक प्रवृत्ति*

*एक दूसरे पदार्थो मे ग्रपने-ग्रपने द्रव्यो का विसर्ग एव परद्रव्यो का ग्रादान कैसे होता है ? ग्रादान-विसर्ग मे भैषज्य लक्षण जीवन-यज्ञ का स्वरूप कैसे सम्पन्न होता है ? इत्यादि विषयो का विशद विवेचन **ईशोपनिषत् हिन्दी विज्ञानभाष्य** प्रथम खण्ड मे देखना चाहिए ।

होती है, वह प्रवृत्ति हमारी नही, अपितु अध्यात्म मे प्रविष्ट अर्य्यमा नाम का आदित्यप्राण ही इस दानेच्छा का अधिष्ठाता है। यदि प्राणियो मे (आदानविसर्गस्वरूपसम्पादक) यह दान न हो तो जीवन साधक यज्ञ सम्बन्ध ही उच्छिन्न हो जाए। अन्य पदार्थ से प्रवर्ग्यरूप मे परिणत हो कर आने वाली वस्तु ही अन्य पदार्थ मे आहुत हो कर अन्नादान रूप यज्ञ का स्वरूप समर्पक बनती हुई उस पदार्थ की प्रतिष्ठा का कारण बनती है। इसी आधार पर इस अर्य्यमा के लिए **"यज्ञो वा अर्य्यमा"** (तै० ब्रा० ३।८।१६।३) यह कहा जाता है। दानशील मनुष्य यज्ञ का प्रेरक बनता हुआ साक्षात् अर्य्यमा है। इसी अभिप्राय से "अर्य्यमेति तमाहुर्यो ददाति" (तै०ब्रा० १।१।२।४) यह कहा गया है।

"बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः"

इस निगम के अनुसार **पृथिवी–अन्तरिक्ष** द्यौ (सूर्य्य) रूप विश्व के उत्तर भाग मे इन्द्र (सूर्य्य) प्रथम स्थान रखता है। इसी अभिप्राय से इसके लिए "विश्वस्मादिन्द्र उत्तर." यह कहा जाता है। वाजपेययज्ञ प्रवर्त्तक **बृहस्पति-ग्रह** परमेष्ठी एव स्वयभू रूप उत्तर-विश्व के अन्त मे प्रतिष्ठित है। इस बृहस्पति के सम्बन्ध से ही सौरसाम (महिमामण्डल किवा विभूतिमण्डल) **बृहत्साम** नाम से प्रसिद्ध है। यही "बृहतापति" है। ऊर्ध्व भाग स्थित बृहस्पति के ऊपर दक्षिणोत्तर ध्रुव को काटता हुआ खगोल मे जो एक प्रकाशित तारापुञ्जमार्ग दिखलाई पडता है, वह पुराण भाषा के अनुसार **"वियद्गङ्गा"–आकाश-गङ्गा"–"सुरदीर्घिका"** आदि नामो से प्रसिद्ध है। इस तारापुञ्ज मे रहने वाला समष्ट्यात्मक प्राण भी **"अर्य्यमा"** नाम से प्रसिद्ध है। इसी आधार पर इस आकाशगङ्गा को वैदिक साहित्य मे "अर्य्यमण पन्थाः" (अर्य्यमा का मार्ग) नाम से व्यवहृत किया गया है* जैसा कि वाजिश्रुति कहती है—

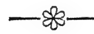
"एषा वा ऊर्ध्वा बृहस्पतेर्दिक्, तदेष उपरिष्टादर्यम्णः पन्थाः"

(शत० ५।५।१।१२)

*खगोलीय सस्था मे तीन प्रकार के बृहस्पति है। **लुब्धक बन्धु** नाम के नक्षत्र को (जो कि रोहिणी नक्षत्र के कुछ पूर्व एव लुब्धक नक्षत्र से कुछ उत्तर भाग मे प्रतिष्ठित है एव जिसके साथ तारा-हरण उपाख्यान का सम्बन्ध है) भी बृहस्पति कहा जाता है। "स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु" मे बृहस्पति शब्द से लुब्धक-बन्धु नामक नाक्षत्रिक बृहस्पति का ही ग्रहण है। दूसरा बृहस्पति ग्रह है जो कि शनि-मगल आदि ग्रहविज्ञान से सम्बन्ध रखता है। इसी ग्रह बृहस्पति को मगल एव बृहस्पति के मध्य मे रहने वाले **देवसेना** नाम के १०८ ग्रहो का सचालक माना गया है। "बृहस्पतिर्दक्षिणा" यजुर्वेदोक्त यही सुप्रसिद्ध बृहस्पतिग्रह है। सूर्य्य से ऊपर रहने वाला बृहस्पति उक्त दोनो से पृथक् है। यह पारमेष्ठ्य ग्रह है। यही **वाज-सोम** का प्रवर्त्तक बनता हुआ वाजपेय यज्ञ का अधिष्ठाता है। इसी आधार पर वाजपेय यज्ञ को **"बृहस्पति-सव** कहा जाता है।

दानपूर्वक यज्ञ का स्वरूप सम्पादन करने वाला प्रदाताप्राण ही "**अर्य्यमा**" है। जिस व्यक्ति के अन्तरात्मा मे इस प्रदाताप्राण की शक्ति रहती है वही स्वभावत दाता होता है। अर्य्यमा की कमी से ही स्वाभाविक कृपणता का उदय होता है। भारत वर्ष पर इस अर्य्यमाप्राण की विशेष कृपा है। अर्य्यमाप्राण की स्वाभाविक अनुकम्पा से ही यह देश आर्य्यावर्त्त एव देश के निवासी आर्य्य कहलाते है। आर्य्यों की दानशक्ति प्रसिद्ध है। "दातारो नोऽभिवर्त्तन्ताम्" (हमारे कुल मे दाता बढे) यह इस देश का उच्च आदर्श है। अर्य्यमाप्राण की कृपा से ही इस देश मे सर्वप्रथम यज्ञविद्या का आविष्कार हुआ है। अर्य्यमाप्राण के इसी स्वरूप धर्म्म को लक्ष्य मे रख कर श्रुति कहती है—

१—"**यज्ञो वा अर्य्यमा**" (तै०ब्रा० २।३।५।४)
२—"**अर्य्यमेति तमाहुर्यो ददाति**" (तै०ब्रा० १।१।२।४)
३—"**ततो वै स (अर्य्यमा) पशुमानभवत्**" (तै०ब्रा० ३।१।४।९)



८—अंशुः❀

१—"**प्राण एवांशुः चक्षुरेवांशुः**" (शत० ११।५।९।२)।
२—"**मनो ह वांशुः**" (शत० ११।५।९।२)।
३—"**प्रजापतिर्वा एष यदंशुः**" (शत० ४।६।१।१)।
४—"**प्रजापतिर्वा एष यदंशुः सोऽस्य (यजमानस्य) एष आत्मैव**" (शत० ४।६।१।१, ११।५।९।१)।



९—विवस्वान्

कल्पदृष्टि से **विवस्वान** नाम के आदित्य का बडा महत्त्व है। यही कारण है कि जहाँ और-और आदित्यप्राण केवल **आदित्य** नाम से प्रसिद्ध है वहाँ यह विवस्वान नाम का आदित्य "**मार्त्तण्ड**" किंवा

❀'अशु' पर लिखते समय स्वर्गीय पण्डित श्री मोतीलालजी शास्त्री स्थान खाली छोड गये है। लगता है, अवकाश मे फिर इस पर सप्रमाण लिखने का उनका विचार था जो पूरा नही हो पाया। अत यहाँ ग्रन्थ की मौलिकता और प्रामाणिकता की रक्षा के लिए केवल अशु विषयक श्रुति-वचनो के सदर्भ उद्धृत कर सन्तोष लाभ करना ही श्रेयस्कर समझा गया है—सम्पादक।

"मार्त्ताण्ड" इस विशेष नाम से व्यवहृत हुआ है। सृष्टि-विज्ञानान्तर कालविज्ञान के अनुसार वर्त्तमान मन्वन्तर "वैवस्वत मन्वन्तर" नाम से प्रसिद्ध है जैसा कि पूर्व की **अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्** मे विस्तार से बतलाया जा चुका है। इसी विवस्वान आदित्य का स्वरूप निरूपण करती हुई मन्त्र श्रुति कहती है—

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि ।
देवाँऽउपप्रैत् सप्तभिर्परामार्त्ताण्डमास्यत् ।।
सप्तभिः पुत्रैरदितिरुपप्रैत् पूर्व्यं युग्मम् ।
प्रजायै मृत्यवेतत् पुनर्मार्त्ताण्डमाभरत् ।। (ऋक्० १०।७२।८।९)।

उक्त आदित्यो को अदितिपुत्र बतलाया गया है। यह अदितितत्त्व **१—पृथिवीमण्डलोपलक्षिता अदिति २—सूर्य्यमण्डलोपलक्षिता अदिति ३—नक्षत्रमण्डलोपलक्षिता अदिति** भेद से प्रधानरूप से तीन भागो मे विभक्त माना गया है। इन तीनो अदितियो मे प्रकृत मन्त्रो मे स्तौम्यत्रिलोकी से सम्बन्ध रखने वाली पृथिवीमण्डलोपलक्षिता अदिति का ही निरूपण हुआ है। भू-पिण्ड का आधा अण्डकपाल सदा दृश्य रहता है। आधा अण्डकपाल सदा अदृश्य रहता है। दृश्यकपाल के साथ सौरज्योतिर्मय प्राण का अविच्छिन्न रूप से सम्बन्ध रहता है, अतएव भू-पिण्ड का सौरतेजोऽवच्छिन्न यह पार्थिव दृश्य भाग **अदिति** कहलाता है। अदृश्य भाग मे सौरप्राण कट जाता है, दूसरे शब्दो मे उस भाग मे सौर तेज का अभाव है, अतएव भूपिण्ड का यह तपोमय पार्थिव भाग **'दिति'** नाम से व्यवहृत होता है। खण्डनार्थक दो-दो धातु से ही दिति शब्द निष्पन्न हुआ है (दो अवखण्डने)। इस व्यवस्था के अनुसार रात्रि मे भी अदिति सत्ता सिद्ध हो जाती है। पृथिवी अपने अक्ष पर घूम रही है। भूपिण्ड के इस स्वाक्षपरिभ्रमण से ही पृथिवी की दैनदिन गति होती है। इस दैनदिनगति से ही अहोरात्र (दिन-रात) का स्वरूप निष्पन्न होता है। अहोरात्र स्वरूप समर्पिका इस दैनदिन गति के आधार पर यह मान लेने मे कोई आपत्ति नही रह जाती है कि उक्त अदिति की सत्ता रात्रि मे भी प्रतिष्ठित है। कारण स्पष्ट है। अह कालवत् रात्रि मे भी दृश्य भाग अक्षुण्ण रहता है। सर्वत परिभ्रमण के कारण ही भूमण्डलोपलक्षिता अदिति सम्पूर्ण पृथिवी, सब दिशाएँ, अन्तरिक्ष, द्यौ आदि सबके साथ युक्त हो जाती है। सर्वात्मभूता भूमण्डलोपलक्षिता इसी अदिति का स्वरूप बताते हुए वेदमहर्षि कहते है—

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्म्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ।।
(ऋग्० १।८९।१०)।

इसी अदिति को लक्ष्य मे रख कर "इय वै पृथिव्यदिति" (शत० १।१।४।५) यह कहा गया है। परिभ्रमणमूला उक्त अदितिस्वरूप परिचय से विज्ञ पाठको को यह भी समझ लेना चाहिए कि यह अदिति वस्तुत गतिशीला बनती हुई परिवर्त्तनशीला है, अस्थिरा हे। उधर सूर्य्यमूला अदिति सर्वथा

स्थिर है, इसी प्रकार नक्षत्रमूला अदिति जिसका कि सम्बन्ध "देवस्य त्वा अश्विनोर्बाहुभ्यापूष्णो हस्ताभ्यामाददे नार्यसि" (यजु० २।६।५।२) इत्यादि मन्त्रवर्णन के अनुसार **पुनर्वसु** नक्षत्र के तृतीय चरण के बाद माना गया है, सर्वथा स्थिर है। यज्ञकाल निर्णय मे इस नक्षत्रमूलास्थिर* अदिति को ही महत्त्व दिया गया है। उक्त दोनो मन्त्रो का इन स्थिर दोनो अदितियो से कोई सम्बन्ध नही है। यदि अह काल मे ही अपनी सत्ता रखने वाली स्थिर अदिति के साथ उक्त मत्रो का सम्बन्ध माना जायेगा तो "देवाँ उपप्रैत् सप्तभि" यह कथन सर्वथा असगत हो जायगा। कारण स्पष्ट है। अह काल मे अदिति के साथ ६ आदित्यो का सम्बन्ध होता है, आठवाँ आदित्य स्वय मार्त्तण्ड (सूर्य्यपिण्ड) है। रात्रि मे मार्त्तण्ड का सम्बन्ध न रह कर केवल सात आदित्यो का ही अदिति से सम्बन्ध रहता है। रात्रि मे सूर्य्यपिण्ड के अस्ताचलानुगामी बनने पर भी आदित्यप्राण अवश्य रहते है। इनका अदिति के साथ सम्बन्ध बतलाना तभी घटित हो सकता है जब कि रात्रि मे भी अदिति-सत्ता मान ली जाय। सूर्यमूला एव नक्षत्रमूला अदिति स्थिरभाव के कारण ऐसी नही हो सकती क्यो कि इसकी सत्ता पूर्वकथानुसार रात्रि मे भी है।

"अष्टौ ह पुत्रा अदितेः यांस्त्वेद्देवा आदित्या इत्याचक्षते। सप्त हैव ते अविकृतं हाष्टमं जनयाञ्चकार मार्त्ताण्डम्। सन्देघो हैवास। यावानेवोर्ध्व-स्तावांस्तिर्यक्। पुरुषसम्मित इत्यु हैक आहुः। तऽउ हैतऽऊचुः 'देवा आदित्या यदस्मानन्वजनि मा तदमुयेव भूत्ऽहन्तेमं विकराम इति। तं विचक्रुः यथायं पुरुषो विकृतः। यमु ह तद्विचक्रुःस "विवस्वान्" आदित्यः तस्येमाः प्रजाः" इति
(शत० ३।१।३।३)।

*खगोल स्स्था मे पृथिवी के परिभ्रमण से स्व-स्थान मे सर्वथा स्थिर रहते हुए भी नक्षत्र पूर्व से पश्चिम की ओर उसी प्रकार जाते हुए दिखलाई देते है जैसे कि रेलवे ट्रेन मे जाने वाले यात्री को मार्ग मे आने वाले स्व-स्थान मे स्थिर वृक्ष अपने गतिमार्ग से विरुद्ध दिक् मे जाते हुए दिखलाई पडते है। इस दृश्य परिस्थिति को लक्ष्य मे रख कर ही नक्षत्रो का उदयास्त माना गया है। वस्तुत सब नक्षत्र सदा समान रूप से अपने-अपने नियत स्थानो पर ही प्रतिष्ठित रहते हुए अपने **नक्षत्र** (न क्षरतीति क्षत्रम्) नाम को चरितार्थ कर रहे है। **"देवस्य त्वा सवितु"** इत्यादि मन्त्रो का यही तात्पर्य है कि जिस समय पूषा नाम से प्रसिद्ध **रेवती** नक्षत्र पश्चिम क्षितिज मे अस्त हो जाता है, डूब जाता है, अदृश्य बन जाता है, उस समय **नासत्य** एव **दस्र** नाम से प्रसिद्ध अश्विनी के दोनो तारे **रैवन्त** नक्षत्र को साथ लिए डूबने वाले होते है। इस दशा मे स्वज्योतिर्म्मय होने से **सविता** नाम से प्रसिद्ध **स्वाती** नक्षत्र पूर्व क्षितिज पर रहता है। डूबे हुए सर्वथा अदृश्य रेवती, डूबने वाले किन्तु दृश्य अश्विनी दोनो की मध्य बिन्दु से आरम्भ कर पूर्व क्षितिज मे प्रतिष्ठित स्वाती नक्षत्रपर्य्यन्त आकाश दिव्याकाश कहलाता है। इस दिव्याकाश का केन्द्रबिन्दु मध्यस्थ पुनर्वसु नक्षत्र का तृतीय चरण होता है। इस प्रकार स्वाती (सविता) के प्रसव उदय काल एव अश्विनी के बाद, पूषा के हाथो से मध्यस्थ स्थिर बिन्दुरूप अदिति का ग्रहण होता है। नक्षत्र-मूला स्थिर अदिति का यही सक्षिप्त निदर्शन है।

उक्त ब्राह्मण श्रुति का तात्पर्य यही है कि इतर आदित्य प्राण विकृत है, भिन्न-भिन्न रूप से अपनी-अपनी स्वतन्त्र सस्थाओ मे व्याप्त है परन्तु सूर्य्यपिण्ड रूप विवस्वान् नाम का आदित्य अविकृत है, पिण्डरूप है, पुरुषवत् प्रत्यक्ष दृष्ट है । यह अविकृत मार्त्तण्ड प्रजाकामुक बनता हुआ आगे जा कर कूर्म्म रूप से परिणत होता हुआ **दधि–घृत–मधु** इन तीन विकृत भागो मे उसी प्रकार परिणत हो जाता है जैसे कि पुरुष-सस्था अस्थिमासादि घनभाव, रसशोणितादि तरलभाव, शुक्रओजादि विरलभाव भेद से तीन विकृत भावो से युक्त रहती है यही विवस्वान् आदित्य की विकृतावस्था है, इसी को चितिविज्ञान के अनुसार **कूर्म्म–कश्यप–पश्यक** आदि विविध नामो से व्यवहृत किया जाता है । जो तात्पर्य्य—

"एतद्वै❀ रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत । यदसृजत अकरोत्तत् । यदकरोत् तस्मात् कूर्म्मः । कश्यपो वै कूर्म्मः । तस्मादाहुः सर्वा प्रजा काश्यपः" । इति । (शत० ७।४।१।५) ।

इस वचन का है, उसी अभिप्राय से, उसी अर्थ मे **"यमु ह तद्विचक्रु स विवस्वानादित्य , तस्येमा प्रजा "** यह कहा गया है । निष्कर्ष यही हुआ कि सूर्य्यकेन्द्र मे उक्थ रूप से (मूल प्रभव रूप से) प्रतिष्ठित (अतएव मनु नाम से प्रसिद्ध) कूर्म्म रूप से परिणत हो कर त्रैलोक्य को अपनी रश्मियो से आच्छादित करने वाला आदित्यप्राणविशेष ही **"विवस्वान्"** है । यही विवस्वान् आगे जा कर **मनु–यम–मृत्यु** इन तीन भावो का आरम्भक बनता है जैसा कि आगे बतलाया जाने वाला है । विवस्वान् की इसी वृत्ति को लक्ष्य मे रख कर श्रुति कहती है—

१—**"असौ वाऽआदित्यो विवस्वानेष ह्यहोरात्रे विवस्ते । तमेष विवस्ते, सर्वतो ह्यनेन परिवृतः"** (शत० १०।५।२।४) ।

२—**"विवस्वन्नादित्येष ते सोमपीतः"** (शत० ४।३।५।१८) ।

—**—

१०–त्वष्टा

रूप ही वस्तु का स्वरूप सम्पादक है । इस के **आकार** एव **वर्ण** भेद से दो भाग है । **कृष्णशुक्ल–हरित**–पीत–नील–हिरण्मय आदि रूप **वर्णरूप** है । इनका अधिष्ठाता पूर्व-प्रतिपादित **मघवा** नामक **इन्द्र** नाम का आदित्य है । वस्तु का जो **वर्तुल** (गोल)–**चतुष्कोण**–षट्कोण–**त्रिकोण–अष्टकोण**–

❀इस विषय का विशद विवेचन "शतपथ हिन्दी विज्ञान भाष्य" मे देखना चाहिए ।

लम्बा–चौडा आदि आकार रूप जिस आदित्यप्राण से विकसित होते है, वही "**त्वष्टा**" नाम से प्रसिद्ध है। "**त्वष्टारूपाणि पिशतु**" से आकार रूप ही अभिप्रेत है। प्रजानिर्म्माण प्रक्रिया मे **त्वष्टा–नाभानेदिष्ट –बालखिल्या–एवयामरुत्** ये चार प्राण सहचारी माने गए है (द्रष्टव्य ऐ०ब्रा० ६।३०)। योषाग्नि (गर्भाशयगत शोणिताग्नि) मे आहुत होने वाली शुक्रबिन्दु आगे जा कर **हाथ–पैर–आंख–नाक–कान मुख–ग्रीवा–जङ्घा–उदर–कण्ठ–ललाट–अंगुली–नख–कफोणी–जत्रु–मणिबन्ध** आदि विविध आकारो मे परिणत क्यो हो जाती है ? इसका उत्तर यही त्वष्टाप्राण है।

वस्तुपिण्ड **वाङ्मय** है। वाक्तत्त्व पाँचो भूतो का मूल है। दूसरे शब्दो मे वाक्तत्त्व ही पञ्च-महाभूत मे रूप मे परिणत होता है। "वाक् परिमाण छन्द" के अनुसार वाक् (भूत) का परिमाणविशेष (ढाँचा) ही छन्द है। बहिसीमा (बाहर का दृश्य आकार) ही उस वस्तु का छन्द कहलाता है। तत्तच्छन्द ही तत्तद् वस्तु का आकार रूप है। इसका विधाता यही त्वष्टाप्राण है। इसीलिए **वाक्** को भी त्वष्टा कहा जाता है। पूषा नाम के आदित्य का निरूपण करते हुए हमने चर्म्मचक्षु से दिखलाई देने वाले तत्त्व को **पशु** कहा है। दीखता है आकार, आकार का अधिष्ठाता है त्वष्टा। इसीलिए पशु को भी त्वष्टा कहा जाता है। त्वष्टाप्राण के इन्ही स्वरूपधर्म्मो का प्रतिपादन करते हुए निम्नलिखित श्रौत वचन हमारे सामने आते है—

१—**"वाग्वैत्वष्टा। वाग्घीदं सर्वं त्वाष्टीव"** (ऐ०ब्रा० ६।१०)।
२—**"त्वष्टा वै पशूनामीष्टे"** (शत० ३।७।३।११)।
३—**"त्वष्टुर्हि पशवः"** (शत० ३।८।३।११)।
४—**"त्वष्टा वै पशूनां रूपाणं विकर्त्ता"** (ता०ब्रा० ६।१०।३)।
५—**"त्वष्टा पशूनां मिथुनानां रूपकृद् रूपपतिः"** (तै०ब्रा० २।५।७।४)।
६—**"त्वष्टा हि रूपाणि विकिरोति"** (तै०ब्रा० २।७।२।१)।
७—**"त्वष्टा वै रेतः सिक्तं विकिरोति"** (कौ० ३।६)।

—**—

११–सविता

परमेष्ठि–सूर्य्य–चन्द्रमा–बृहस्पति आदि ग्रहो की तरह सविता भी एक ग्रह है। साथ ही मे चन्द्रमा जिस प्रकार पृथिवी का उपग्रह है, पृथिवी–बुध–शुक्र–मगल–शनि आदि सूर्य्य के उपग्रह है एवमेव ब्रह्मणस्पति–बृहस्पति–सविता–सूर्य्य आदि कई उपग्रह परमेष्ठी के माने गए है। ये उपग्रह परमेष्ठी के चारो ओर परिक्रमा लगाया करते है इनमे से प्रकृत मे सविताग्रह ही अभिप्रेत है। वैदिक परिभाषाओ

के विलुप्तप्राय हो जाने से आज सविता सूर्य्य का परस्पर पर्य्याय सम्बन्ध माना जा रहा है। यद्यपि सूर्य्य को भी सविता कहा जा सकता है, परन्तु केवल सूर्य्य को ही सविता मानना सर्वथा भ्रान्ति है। सविता एक स्वतन्त्र ग्रह है, एव इसकी सत्ता तीसरे द्युलोक मे है। अन्तरिक्ष पहला द्युलोक है, सूर्य दूसरा द्युलोक है, परमेष्ठी तीसरा द्युलोक है। यही सविता प्रतिष्ठित है। इसका एकमात्र कार्य्य **प्रेरणा** (कार्यप्रवृत्ति के लिए उत्तेजना) है। प्राकृतिक प्राणदेवताओ से ही भौतिक पदार्थ उत्पन्न होते है, एव प्राणो के आगमन से ही इनका जीवन रहता है। इन प्राण देवताओ को पदार्थोत्पत्ति के लिए एव जीवन के लिए प्रेरित करने वाला देवता ही सविता है। बिना सविताप्राण की प्रेरणा के किसी भी तत्त्व किवा वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सम्बन्ध नही हो सकता। सविता देवता देवताओ के **नाजिर** है। **इजरा** करना इनका मुख्य कर्म्म है। अतएव प्रत्येक यज्ञकर्म्म मे तत्तद्यज्ञ विभूतियो को प्राप्त करने के लिए सविता से ही प्रार्थना करते देखा जाता है। इस पारमेष्ठ्य सविताप्राण का सर्वप्रथम सूर्य्य के साथ सम्बन्ध होता है। हमारे त्रैलोक्य में हमे सूर्य्य के द्वारा सविताप्राण मिलता है, अत सूर्य्य को आगे जा कर सविता मान लिया गया है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, सूर्य्य ही सविता नही है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि सविता **"प्रातर्य्यावाण"** देवता माना गया है। **पञ्च-पञ्च उषाकालोपलक्षित गायत्री वेला मे** सविता की सत्ता मानी गई है। सविता के आगमन का प्रधान समय ब्राह्ममुहूर्त्त से आरम्भ कर सूर्य्योदय से एक घण्टे पीछे तक माना गया है। इतने काल मे हमे सविताप्राण प्रभूत मात्रा मे मिलता है। इस प्रेरणात्मक सविता-प्राण को आत्मसात् करने के लिए ही ब्राह्ममुहूर्त्त मे उठ कर नित्यकर्म्मो से निवृत्त हो कर गायत्री जप करने का आदेश है। गायत्री द्वारा सविता का वरेण्य (सग्रहणीय) तेज ही सगृहीत किया जाता है। उधर सूर्य्य सम्पूर्ण अह काल का अधिष्ठाता बना हुआ है। इससे स्पष्ट है कि सूर्य्य का नाम सविता नही है अपितु सूर्य्य मे प्रेरणा भाव का उदय करने वाला आगन्तुक प्राण ही सविता है। प्रत्येक पदार्थ मे सविता प्राण का भोग होता है, अतएव ब्राह्मण ग्रन्थो मे **अग्नि–चन्द्रमा–सूर्य्य–अभ्र–मन–प्राण–यज्ञ–पृथिवी–वायु–स्तनयित्नु–वेद–पुरुष–पशु–अह** आदि सबको सविता शब्द से सम्बोधित किया है। इस सविताप्राण की प्रतिष्ठा-भूमि प्रत्येक पदार्थ की केन्द्रबिन्दु है। केन्द्र से सीधी आने वाली प्रेरणात्मिका रश्मिएँ **सावित्री** है। उदाहरण के लिए **दीपार्चि** (दीपशिखा) को सविता समझिए। इससे चारो ओर ऋजुमार्ग से निकलने वाली रश्मियो को सावित्री समझिए। ये ही रश्मिएँ किसी धामच्छद वस्तु से टकरा कर यदि प्रतिफलित हो जाती है तो इन्हे गायत्री शब्द से व्यवहृत किया जाता है। प्रत्येक सविता❀ के साथ सावित्री एव गायत्री का सम्बन्ध रहता है।

सौर रश्मिएँ हिरण्यवर्णा है अतएव सविता को **हिरण्यपाणि** कहा जाता है। किसी भी कार्य के लिए हमारे अन्त करण मे पहिले **"इद कुरु"** (यह करो), **"इदं कर्त्तव्यम्"** (यह काम करना चाहिए)

❀इस विषय का विशद विवेचन सन्ध्याविज्ञान रहस्य मे देखना चाहिए।

इत्यादि रूप से अन्त प्रेरणा का उदय होता है। यह प्रेरणा उसी सविताप्राण की प्रेरणा है। सम्पूर्ण कर्म सवितृप्रसूत बन कर ही पूर्णरूप से निष्पन्न होते है। सविताप्राण के उपर्युक्त स्वरूप धर्म्मो को लक्ष्य मे रख कर ही निम्नलिखित श्रौतवचन हमारे सामने आते है—

१—"**सविता वै देवानां प्रसविता**" (शत० १।१।२।१७)।

२—"**सविता वै प्रसवानामीशे**" (ए०ब्रा० १।३०)।

३—"**आदित्य एव सविता**" (गौ०ब्रा०पू० १।३३)।

४—"**एष वाव सावित्रः य एष तपति**" (शत० ३।२।३।१८)।

५—"**अग्निरेव सविता**" (जै०ब्रा०उ० ४।२७।१)।

६—"**वरुण एव सविता**" (जै०ब्रा०उ० ४।२७।३)।

७—"**विद्युदेव सविता**" (गो०ब्रा०पू० १।३३)

८—"**वायुरेव सविता**" (गो०ब्रा०पू० १।३३)

९—"**चन्द्रमा एव सविता**" (गो०ब्रा०पू० १।३३)।

१०—"**यज्ञ एव सविता**" (जै०उ० ४।२७।७)।

११—"**इयं (पृथिवी) वै सविता**" (शत० १३।१।४।२)।

१२—"**अब्भ्रमेव सविता**" (गो०ब्रा०पू० १।३३)।

१३—"**वेदा एव सविता**" (गो०ब्रा०पू० १।३३)।

१४—"**अहरेव सविता**" (गो०ब्रा०पू० १।३३)।

१५—"**पुरुष एव सविता**" (जै०उ० ४।२७।१७)।

१६—"**पशवो वै सविता**" (शत० ३।२।३।११)।

१७—"**प्राणो वै सविता**" (ऐ०ब्रा० १।१९)।

१८—"**मनो वै सविता**" (शत० ६।३।१।१३)।

१९—"**तस्मात् (सविता) हिरण्यपाणिरितिस्तुतः**" (कौ०ब्रा० ६।१३)।

२०"—**दातारमद्य सविता विदेय यो नो हस्ताय (नक्षत्राय) प्रसुवाति यज्ञम्**" (तै०ब्रा० ३।१।३।६)।

१२—विष्णुः

दो विजातीय पदार्थो का अथवा अनेक विजातीय पदार्थो का **अन्तर्य्याम** सम्बन्ध (रासायनिक मिश्रण) से अपूर्व भाव मे परिणत हो जाना ही यज्ञ है । मिलने वाली इन दो वस्तुओ मे एक अन्नाद बनती है, दूसरी अन्न बनती है । अन्नाद का अग्नि कहा जाता है, अन्न को सोम कहा जाता है । अन्नाद अग्नि मे अन्न सोम का आहुत होना ही यज्ञ है । अन्नादाग्नि मे अन्न की आहुति देने वाली सौर-आकर्षण शक्ति ही **विष्णु** के नाम से प्रसिद्ध है । पूर्व की **अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्** मे पञ्चाक्षर का निरूपण करते समय विष्णुतत्त्व का विस्तार से स्वरूप बतलाया जा चुका है । वहाँ **आगतितत्त्व** को ही विष्णु कहा गया है । अशनाया सूत्र से सोम को आकर्षित कर उसे अग्नि मे आहुत करना आगति धर्म्मा विष्णु का ही कर्म है । ऐसी स्थिति मे इस विष्णुतत्त्व को यज्ञस्वरूपसमर्पक होने से हम अवश्य ही **यज्ञ** नाम से व्यवहृत करने के लिए तय्यार है । प्रकृत मे विष्णु के सम्बन्ध से केवल यही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि वह आदित्यप्राण जो हृद्याक्षर सम्बन्ध से प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र मे प्रतिष्ठित होकर अशनाया सूत्र द्वारा अन्नाहुति से जीवनसत्तैकमूल पदार्थो के यज्ञ को सुरक्षित रखता है, वही आदित्यविष्णु नाम से प्रसिद्ध है । जब तक यह वैष्णवी शक्ति काम करती रहती है, तब तक वस्तु की जीवन सत्ता रखने वाला अन्नादान रूप यज्ञ होता रहता है । वैष्णवी शक्ति के उत्क्रान्त होते ही यज्ञ बन्द हो जाता है, पदार्थ नष्ट हो जाता है । विष्णु ही विश्व के पालक है । तैतीस यज्ञ देवताओ के अन्त मे इसी विष्णु देवता का साम्राज्य है । द्वादश आदित्य विभूति का यही संक्षिप्त स्वरूप परिचय है ।



मनु–यम–मृत्युविभूति–स्वरूप परिचय—

पूर्व प्रकरण मे जिन १२ आदित्यप्राणो का दिग्दर्शन कराया गया है उनमे से **विवस्वान्** नाम के नवे आदित्यप्राण से **मनु–यम–मृत्यु** नाम के तीन तत्त्व उत्पन्न होते है । प्रसगागत इन वैवस्वत तत्त्वो का स्वरूप जान लेना भी अनावश्यक न होगा । इन तीनो का स्वरूप वैवस्वत के आधार पर **इन्द्र–अग्नि–वरुण** के समन्वय से निष्पन्न होता है । ये तीनो देवता क्रमश मनु, यम, मृत्यु के रेत (उपादान द्रव्य) है एव विवस्वान इन तीनो की योनि है । विवस्वान रूपा योनि मे इन्द्र–रेत की आहुति होने से मनुतत्त्व उत्पन्न होता है । अग्नि–रेत की आहुति से यम तत्त्व का विकास होता है एव मुच्यु नाम से प्रसिद्ध वरुणरेत' की आहुति मृत्यु–देवता की स्वरूप सम्पादिका है । इन्ही का स्वरूप क्रमशः पाठको के सम्मुख उपस्थित किया जाता है ।

१—मनुनिरुक्तिः

त्रिवृत्स्तोम (९) स्थानीय **"पृथिवीलोक"** पञ्चदशस्तोम (१५) स्थानीय **अन्तरिक्षलोक** एव एकविंश (२१) सोमस्थानीय **द्युलोक भेद** से इन्द्र-तत्त्व तीन भागो मे विभक्त है । इन तीनो लोको के अतिष्ठावा देवता क्रमश **अग्नि-वायु** आदित्य है । इनमे क्रमश अग्निप्रधान पार्थिवेन्द्र **वासव** नाम से, वायुमय **आन्तरिक्ष्येन्द्र मरुत्वान्** नाम से, एव आदित्यमय दिव्येन्द्र **मघवा** नाम से प्रसिद्ध है । **"सूर्य्यो-बृहती मध्यूढस्तपति"** **"बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः"** **"बिभ्राड्बृहत् पिबतु सौम्यम्"** इत्यादि श्रौत वचनों के अनुसार **बृहत्** नाम से प्रसिद्ध सूर्य को **बृहतीछन्द** पर प्रतिष्ठित माना गया है । **गायत्री–उष्णिक्–अनुष्टुप्**

आदि सातो छन्दो मे (जो कि छन्द ज्योतिशास्त्र परिभाषा के अनुसार अहोरात्रवृत्त पूर्वापरवृत्त इत्यादि नामो से प्रसिद्ध है) मध्य का नवाक्षर छन्द ही बृहती नाम से व्यवहृत है। चक्षु शास्त्र परिभाषा के अनुसार यही छन्द **विष्वद्वृत्त** नाम से व्यवहृत हुआ। इसका प्रत्येक चरण ९-९ अक्षर का है, सभूय बृहती छन्द के ३६ अक्षर हो जाते है। सौरी गौसाहस्री के सम्बन्ध से एक-एक बृहती प्राण सहस्र-सहस्र सख्या मे परिणत हो जाता है। इस प्रकार बृहती के ३६ अक्षर प्राणो के ३६००० (छत्तीस हजार) प्राण हो जाते है। ये छत्तीस हजार बृहती प्राण वास्तव मे सौर मववेन्द्र प्राण ही है। इन्दु तत्त्व ही महिमा रूप से ३६ सख्या मे परिणत हो कर शतायुपुरुष के आयुसूत्र का अधिष्ठाता बन रहा है।

उक्त आयुसूत्र से बढ कर पदार्थो का मित्र किवा हितैषी और कौन हो सकता है अतएव इस आयु प्राण को विश्वामित्र$ (विश्व का मित्र) नाम से व्यवहृत किया जाता है। आयुप्रदाता इस बृहती सहस्र (३६००) ऐन्द्र प्राण के प्रथम द्रष्टा ऋषि भी विश्वामित्र नाम से प्रसिद्ध हुए है। ऐन्द्र प्राण विश्वामित्र है, इसके प्रथम आविष्कारक मनुष्य ऋषि भी विश्वामित्र है। विश्वामित्र ऋषि उपासना के द्वारा इन्द्र को प्रसन्न करते है। आठ* प्रकार के देवताओ मे से "अभिमानि व्यपदेशस्तुविशेषानुगतिभ्याम्" (ब्रह्म सू० २।१।५) के अनुसार अभिमानी कोटि के इन्द्र देवता मनुष्याकार मे परिणत होकर इन्द्र के सामने उपस्थित होते है और कहते है—"ऋषे! प्रिय धामोपागा। वर वृणीष्व! (हे विश्वामित्र! आप मेरे प्रिय स्थान पर पहुँच गए है, वर मागिए)। ऋषि उत्तर देते है—"त्वामेवाह वृणे" (मै आपका—इन्द्र का ही स्वरूप जानना चाहता हूँ)। आगे जा कर बृहती सहस्र का स्वरूप बतलाते हुए इन्द्र कहते है—

"एतदेवाहं☉ मनुष्याय हिततमं मन्ये यन्मा विजानीयात्। प्राणे वा अहमस्मृषे! प्राणस्त्वं, प्राणः सर्वाणि भूतानि, प्राणे ह्येवेष य एष तपति। स

$"मित्रे वर्षौ" पाणिनीय सूत्र के अनुसार ऋषिवाचक विश्वमित्र शब्द का दीर्घ हो जाने से विश्वामित्र बन जाता है। जो अर्थ लौकिक भाषा मे विश्वामित्र का है, वही अर्थ ऋषिवाचक विश्वामित्र शब्द का समझना चाहिए।

*इन आठो देवताओ का विशद निरूपण **शतपथ हिन्दी विज्ञानभाष्य** (१ वर्ष) मे देखना चाहिए।

☉(**"मै आपका ही स्वरूप जानना चाहता हू"**, विश्वामित्र के यह वह मागने पर इन्द्र अपना स्वरूप बतलाते हुए कहते है)—मै मनुष्य के लिए यह सब से बडा हित समझता हूँ कि वह मुझे (इन्द्र तत्त्व को) पहिचान जाय। हे ऋषे! मै प्राणतत्त्व हूँ, तुम प्राण हो, सम्पूर्ण भूत प्राणात्मक है। यह प्राणतत्त्व ही है जो कि (आकाश मे सूर्य्य) तप रहा है (प्राण प्रजानामुदयत्येष सूर्य्य) सो मै प्राणरूप से ही सर्वत्र व्याप्त हो रहा हूँ। इनमे दक्षिण की ओर रहने वाला प्राण मेरा अन्नात्मक मित्र है। जो कि वैश्वामित्र रूप से तपता हुआ ही मै (स्व-स्वरूप से) प्रतिष्ठित हो रहा हूँ। इन्द्र ने यही उत्तर दिया। . इस प्रकार यह (इन्द्रप्राण) बृहती-सहस्र (३६०००) सम्पन्न हो गया। इस प्राण के व्यञ्जन (मर्त्य भौतिक भाग) शरीर बनते है, घोष भाग आत्मा एव ऊष्मा भाग प्राण बनता है। (ऐ आ २।२।४)।→

एतेन रूपेण सर्वा दिशो विष्टोऽस्मि । तस्य मेऽन्नं मित्रं दक्षिणम् । तद्वैश्वामित्रमेष तपन्नेवास्मीति होवाच......तद्वा इदं बृहती सहस्रं सम्पन्नम् । तस्य यानि व्यञ्जनानि तच्छरीरं, यो घोषः स आत्मा, य ऊष्माणः स प्राणः ।"

(ऐ०आ० २।२।४) इति ।

"सर्वं हीदं प्राणेनावृतम् । सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः, एवं सर्वाणि भूतानि—आपिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात्"

(ऐ०आ० २।१।७) ।

उक्त बृहती सहस्र प्राण जब विवस्वान नाम के आदित्यप्राण के गर्भ मे प्रविष्ट हो जाता है तो वही सायौगिकप्राण "मनु" नाम से व्यवहृत होने लगता है । विवस्वद् गर्भित मनु नामक यह बृहती प्राण ही आयु का अधिष्ठाता माना गया है, जैसा कि पूर्व मे बतलाया जा चुका है । आयु स्वरूप समर्पक इस प्राण की सत्ता प्रत्येक प्रदार्थ के हृदय (केन्द्र) मे मानी जाती है । प्राणापानवायु के आधारस्वरूप व्यान-वायु को ही जीवन (आयु) सत्ता का कारण माना जाता है, जैसा कि उपनिषत् श्रुति कहती है—

न प्राणेनापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥
ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते ॥ (कठो० ५।५।३)

व्यान वायु की प्रतिष्ठा हृद्ग्रन्थि है । इस हृद्ग्रन्थि को सुरक्षित रखने वाला पूर्वोक्त विवस्वान-गर्भित मनुरूप बृहतीप्राण ही है, अतएव अन्ततोगत्वा इसी को जीवनसत्ता की प्रतिष्ठा मान लिया जाता है । यह तत्त्व प्राणात्मक है, प्राणरूप है। प्राणतत्त्व वाक् एव मन के बिना स्वतन्त्र रूप से कभी प्रतिष्ठित नही रह सकता । इसी आधार पर मन-वाक् को प्राण की **'वर्त्तनी'** कहा जाता है । ऐसी स्थिति मे **"षट्त्रिंशत्सहस्र"** (बृहतीसहस्र) प्राण का अर्थ **"मनोवाङ्मयबृहतीसहस्रप्राण"** यह फलितार्थ हो जाता है । ३६००० मन की कलाएँ है, ३६००० ही प्राण की कलाएँ है । मन-वाक्-प्राण तीनो अभिन्न है, इसलिए आगे जा कर १०८००० (एक लाख आठ हजार) कलाओ की ३६००० कलाएँ ही शेष रह

→ "सम्पूर्ण विश्व प्राण से आवृत है । (इसी आधार पर "**सर्वं प्राणिभिरावृतम्**" यह कहा जाता है) यह आकाश (रोदसी त्रैलोक्य का पुराणाकाश, किवा सौर आकाश) इस बृहतीप्राण से सर्वत युक्त हो रहा है । जिस प्रकार यह आकाश बृहतीप्राण से परिपूर्ण बन रहा है एवमेव एक चिऊँटी से आरम्भ कर महाभूत पर्य्यन्त सारा प्रपञ्च बृहतीप्राण से विष्टब्ध है, यह समझना चाहिए" (ऐ०आ० २।१।७) ।

जाती है । हम एक-एक दिन एक-एक कला का उपभोग करते है । ऐसी ३६००० कलाएँ सौर मण्डल से आ कर हमारे हृदय मे उक्थ रूप से प्रतिष्ठित रहती है । प्रतिदिन एक-एक कला खर्च हो जाती है । इस प्रकार ३६००० दिन मे ३६००० कलाएँ समाप्त हो जाती है । ये ही हमारी आयु के १०० वर्ष है । ३६ हजार दिन के पूरे १०० वर्ष होते है । मनुष्य के आयुसूत्र का यह सामान्य मान है । यह प्राण सूर्य्य से आता है अत. **"आगच्छति"** भाव की प्रधानता से इसे **आयु** कहा जाता है । इसी आधार पर **"नूनं जना. सूर्य्येण प्रसूता." "प्राण· प्रजानामुदयत्येष सूर्य्य "** इत्यादि निगम प्रतिष्ठित है ।

हृदय मे प्रतिष्ठित उपर्युक्त आयुसमर्पक मनुप्राण (हृदय ग्रन्थि से बद्ध) व्यान-वायुरूप **उपांशु-सवन** (स्थिर शिला) के आधार पर प्राणरूप उपाशु अपानरूप अन्तर्य्याम ग्रह के घर्षण से तापधर्म्मा वैश्वानर अग्नि उत्पन्न करता है । हम अपने शरीर को जहाँ से छूते है वही से उसे गरम पाते है । यह ताप उसी सयोजक वैश्वानर अग्नि का धर्म्म है । व्यानतत्त्व के आधार पर सञ्चालित होने वाले प्राणयान के घर्षण से उत्पन्न हुआ है अतएव **पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ** इन तीनो विश्वो के अधिष्ठाता अतएव **नर** नाम से प्रसिद्ध प्राण–व्यान–अपान (क्रमश· आदित्य–वायु–अग्नि) से उत्पन्न इस सायौगिक ताप लक्षण अग्नि "विश्वेषा नरा –विश्वानरा , विश्वेभ्यो नरेभ्यो जातो वैश्वानर" इस व्युत्पत्ति से **वैश्वानर** नाम से प्रसिद्ध हो जाता है । इसी वैश्वानरात्मा से पुरुष यावदायु जीवित रहने मे समर्थ होता है । इस प्रकार वैश्वानराग्नि प्रवर्त्तक, प्राणापान व्यापार सचालक विवस्वत्प्राणगर्भित बृहती प्राणात्मक आयुसूत्र का अधिष्ठाता हृद्य तत्त्व ही मनु है, यह पूर्व प्रकरण से भलीभाँति सिद्ध हो जाता है ।

केन्द्र मे **श्वोवसीयस** किवा **श्वोवस्यसब्रह्म** (तै० ब्रा०) नाम से प्रसिद्ध **अव्यय मन** प्रतिष्ठित रहता है । इस अव्यय मन के अनुग्रह से ही उपर्युक्त विवस्वान् नामक प्राण मनु नाम से व्यवहृत होने लगता है । इसी आधार पर—**"पुनन्तु मनसा धिय "** इत्यादि रूप से मन और मनु का अभेद बतलाया जा रहा है । हृदय मे **हृ–द–य** रूप अन्तर्य्यामी अक्षर की सत्ता है । यही **नियतिब्रह्म** है । स्वनियति दण्ड से यह हृदयरूप अन्तर्यामी अक्षर सब के हृदय मे प्रतिष्ठित हो कर सब का शास्ता बन रहा है । हृदयस्थ शास्ता-अक्षर एव इन्द्र प्राणात्मक अव्ययमनोऽवच्छिन्न मनु समानायतन होने से समानधर्म्मा है । इसी आधार पर अक्षर सहयोगी इस मनु को भी शास्ता कह दिया जाता है । अव्यय-पुरुष (मन) परात्पर नाम से प्रसिद्ध विश्वातीत **शाश्वतब्रह्म** से अविनाभूत है । मायाशून्य होने से सीमायुक्त अनित्य भावो से विरहित यह परात्पर **शाश्वतधर्म्म** नाम से प्रसिद्ध है जैसा कि पूर्व की **अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्** मे विस्तार से बतलाया जा चुका है । शाश्वतधर्म्मावच्छिन्न हृदयस्थ अव्ययमन के आधार पर ही मनु तत्त्व प्रतिष्ठित है । इस साहचर्य परम्परा से इस मनु को भी **शाश्वतधर्म्म** नाम से व्यवहृत किया जा सकता है । परात्परतत्त्व अणोरणीयान् है अत इस दृष्टि से मनु को **अणोरणीयान्** भी कहा जा सकता है । सौरप्राण हिरण्मय है, रुक्मकान्तियुक्त है, अतएव तत्प्राणप्रधान मनु को **"रुक्माभ"** नाम से भी व्यवहृत किया जा सकता है । हृदय मे प्रतिष्ठित होने के कारण इसे **स्वप्नधीगम्य** माना जा सकता है । कारण इसका यही है कि स्वप्नावस्था मे मन हृदय स्थान मे चला जाता है । अव्ययमनोऽवच्छिन्न होने से मनु को "पर पुरुष" नाम से भी व्यवहृत किया जा सकता है । वैदिक परिभाषानुसार अव्ययतत्त्व **'पर'** नाम से ही प्रसिद्ध है । इस

प्रकार अक्षर समन्वय से **प्रशास्ता** परात्पर समन्वय से **शाश्वतब्रह्म** एव **अणोरणीयान्** हिरण्मय तत्त्व के सम्बन्ध मे **रुक्माभ,** मनोमय होने से **स्वप्नधीगम्य** अव्ययमन के समन्वय होने से **मनु** एव **परपुरुष,** वेदाग्निमय होने से अग्नि, सर्वसृष्टि प्रवर्त्तक होने से प्रजापति, सोमप्राणप्रधान होने से इन्द्र, ऋषिप्राणघन होने से प्राण नाम से प्रसिद्ध ससारचक्र का प्रवर्त्तक तत्त्व ही मनु* है। मनु के इन्ही स्वरूप धर्म्मो का निरूपण करते हुए महर्षि भृगु कहते है—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात् पुरुषं परम् ।।१।।
एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परेप्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ।।२।।
एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्त्तिभिः ।
जन्मवृद्धि क्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ।।३।।

कालाग्नि स्वरूप यही अखण्ड मनु उपाधि भेद से **सवत्सर–अयन–पक्ष–अहोरात्र–मुहूर्त्त–घटिका–होरा** आदि विविध खण्ड-भावो मे परिणत हो कर ससार-चक्र का प्रेरक बन रहा है। पुराण परिभाषानुसार **मुहूर्त्त** को ही **मनु** कहा जाता है। मनु के अवान्तर खण्ड ही मन्वन्तर है। पूर्व मे मनु को आयुरूप बतलाया गया है। **"आयुर्म्मर्म्माणि रक्षति"—"आयुरत्नप्रयच्छति"** के अनुसार आयु सूत्र ही मुहुर्मुहु (क्षण-क्षण प्रतिक्षण) आत्मा का त्राण किया करता है अतएव आयुरूप मनु को **"मुहुस्त्रायते"** इस व्युत्पति के अनुसार अवश्य ही **"मुहूर्त्त"** नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। अहरागम सृष्टिकाल है, रात्र्यागम प्रलयकाल है। **"अव्यक्तोऽक्षर इत्याहुस्तमाहु परमा गतिम्"** (गीता) इस स्मार्त सिद्धान्त के अनुसार अव्यक्त नाम से प्रसिद्ध अक्षर पुरुष ही अहरागम मे व्यक्त हो कर सृष्टि का अधिष्ठाता बनता है एव रात्र्यागम मे वही मनुरूप अक्षर पुन अपने अव्यक्त भाव मे परिणत होता हुआ प्रलय का अधिष्ठाता बन जाता है। इसी अभिप्राय से स्मृति कहती है—

अव्यक्तात् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्त संज्ञके ।। (गीता, ८।१८)।

सृष्टिकाल ब्रह्मा का **दिन** है, प्रलयकाल **रात्रि** है। मनु प्रजापति के अह काल मे उपाधिभेद से १५ विभाग हो जाते है, ये ही १५ विभाग रात्रि मे होते है। पञ्चदश भागो मे विभक्त अह काल, पञ्चदश भागो मे रात्रिकाल, दोनो मे आत्मा का त्राण करना इसी मनु का काम है। अहोरात्र (दिन-रात) मुख्यपूर्वक

*इस विषय का विशद विवेचन **शतपथ हिन्दी विज्ञान भाष्य** मे देखना चाहिए।

इसी आयुरूप मनु की कृपा से व्यतीत होते है, अतएव अहोरात्र के ये ३० विभाग "**मुहूर्त्त**" नाम से प्रसिद्ध हो जाते है। इन मुहूर्त्तो का स्वरूप **लोकम्पृणा** नाम की **इष्टकाओ** से निष्पन्न होता है। यह मूहूर्त्त काल के अवान्तर क्षुद्रखण्ड है। इन्ही से लोकच्छिद्र पूर्ण होते है, अत कालछिद्र पूरक मुहूर्त्तो को अवश्य ही लोकम्पृणा इष्टका कहा जा सकता है। इसी रहस्य को लक्ष्य मे रख कर वाजिश्रुति कहती है—

"लोकम्पृणाभिः (इष्टकाभिः) मुहूर्त्तानाप्नोति।" (शत० १०।४।३।१२)।

"अथ यत् क्षुद्राः सन्त इमाँल्लोकान् पूरयति तस्मात् (मुहूर्त्ताः) लोकम्पृणाः"
(शत० १०।४।२।१८) इत्यादि।

मानुष अहोरात्र मे ६० घडिएँ होती है। "**मुहूर्त्तोघटिकाद्वयम्**" के अनुसार एक मुहूर्त्त मे दो घटिका (घडी) होती है। हमारे अहोरात्र के सम्बन्ध मे जो कालाग्नि खण्ड मुहूर्त्त नाम से प्रसिद्ध है, ब्राह्म अहोरात्र के सम्बन्ध मे वही मुहर्त्त-मनु किंवा मन्तवन्तर नाम से प्रसिद्ध है। जिस काल-खण्ड को हम अपनी भाषा मे "**तिथि**" कह कर सम्बोधित करते है, वही ब्राह्मकाल मर्यादा मे "**कल्प**" नाम से व्यवहृत होता है। १५ मन्वन्तर अह काल है, १५ मन्वन्तर रात्रिकाल है एक मन्वन्तर प्रात सध्या मे चला जाता है, एक साय सध्या मे अन्तर्भूत हो जाता है। इस प्रकार १४ मन्वन्तर अह काल मे, १४ मन्वन्तर रात्रिकाल मे शेष रह जाते है। कहना यही है कि पूर्व प्रतिपादित हृदयस्थ मनु-तत्त्व ही उपाधि भेद से मन्वन्तर रूप मे परिणत होता हुआ सृष्टिप्रलयसमष्टिरूप ससार चक्र का प्रवर्त्तक बन जाता है। मन्वन्तरो के इन्ही ३० खण्डो का निरूपण करती हुई वाजिश्रुति कहती है—

"स (मनुप्रजापतिः) पञ्चदशाह्नो रूपाण्यपश्यत्-आत्मनस्तन्वो मुहूर्त्ता लोकम्पृणाः। पञ्चदश वै रात्रेः तद्यन् मुहुस्त्रायंते तस्मान् मुहूर्त्ताः"
(शत० १०।४।२।१८)

केन्द्रस्थ यही मनु **भृगु–अङ्गिरा–अत्रि–मरीचि–पुलस्त्य–पुलह–क्रतु–दक्ष–वसिष्ठ–विश्वामित्र,** इन दस ऋषिप्राणो का प्रवर्त्तक बनता है। दूसरे शब्दो मे मन **उक्थ** (मूल बिम्ब) है, १० प्राण इस मूल बिम्ब से निकलने वाले अर्क (रश्मियाँ) है। १० सख्यायुक्त होने से ही इस दर्शार्षिप्राणसमष्टि को (छन्दोविज्ञान परिभाषा के अनुसार) **विराट्** कहा जाता है। इसी आधार पर "विराजमसृजत् प्रभु" (मनु) यह कहा गया है। इस मनुप्राण के **अण्डज–पिण्डज–उष्मज–उद्भिज** भेद से, चार विवर्त्त है। एक ही मनु चार प्रकार की मानवी सृष्टि का प्रवर्त्तक बनता हुआ चतुर्धा विभक्त हो जाता है। इस प्रकार यद्यपि अण्डजादि चारो ही सृष्टिएँ मानवसृष्टि नाम से प्रसिद्ध होनी चाहिए थी तथापि मनुष्य मे बुद्धि के समन्वय से मनु-प्राण उत्कृष्ट बन जाता है, अत मानवसृष्टि केवल पिण्डज सृष्टि को ही माना जाता है। इन्द्रगर्भित विवस्वान् की मनुअवस्था का यही सक्षिप्त निदर्शन है।

वायु विभूति का निरूपण करते हुए हमने आन्तरिक्ष्य आङ्गिरस वायु को यम तत्त्व का स्वरूप समर्पक बतलाया था। वास्तव यम अग्निमूर्त्ति (आङ्गिरामूर्त्ति) ही है। केवल

यम-मृत्यु निरुक्ति— आग्नेय वायु ही यमतत्त्व का उद्‌भावक नही है, अपितु जब यह आङ्गिरस वायु पूर्वोक्त विवस्वान् आदित्य के गर्भ मे प्रविष्ट हो जाता है, तभी यम नाग से व्यवहृत होता है। दूसरे शब्दो मे अग्निगर्भित विवस्वान् ही यम कहलाता है। यही कारण है कि इन्द्र-अग्नि-वरुण प्राण के सम्बन्ध से निष्पन्न होने वाले मनु–यम–मृत्यु तीनो को **वैवस्वत** कहा जाता है। **मनु–यम–मृत्यु** तीनो तत्त्व परस्पर सर्वथा भिन्न है परन्तु विवस्वान् तीनो मे अभिन्न है। प्रात काल से सायकाल पर्य्यन्त मनु–यम–मृत्यु इन तीनो देवताओ का क्रमश भोग होता है। **प्रात सवन** मे मनु की प्रधानता है, **माध्यंदिनसवन** मे यम का साम्राज्य है एव **सायं सवन** मे मृत्यु देवता का प्रभुत्व है। मुन्यु नाम से प्रसिद्ध वरुणगर्भित विवस्वान् ही **"मृत्यु"** है।

जीवन-यात्रा के प्रवाह को सुरक्षित रखना, दूसरे शब्दो मे आयु-सूत्र को अविच्छिन्न रखना मनु का ही काम है। इसी आधार पर "आयुर्वैमनु" यह कहा जाता है। आयुसूत्र प्रवर्त्तक इस मनु की प्रतिष्ठा सूर्य्य केन्द्र को बतलाया गया है। पुरुष के ब्रह्मरन्ध्र से आरम्भ कर सूर्य्य केन्द्र को स्पर्श करता हुआ एक नाडी मार्ग है। इसी नाडी मार्ग को उपनिषद् भाषा मे **महापथ** कहा जाता है, जैसा कि श्रुति कहती है—

अणुः पन्था विततः पुराणो मां स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव।
तेन धीरा आपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः ॥१॥
तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिंगलं हरितं लोहितं च।
एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत् तैजसश्च ॥२॥
(बृ०आ०उ० ६।३।८–९)।

उक्त महापथ के द्वारा ही हृदय-स्थान से उठ कर ब्रह्मरन्ध्र द्वारा सूर्य्य केन्द्र तक आयुस्वरूप सम्पादक इन्द्रतत्त्व निरन्तर आया जाया करता है। जितना समय एक निमेष मे लगता है, उतने समय मे उक्त इन्द्रप्राण तीन बार सूर्य्य-केन्द्र मे आता-जाता है। महापथ के द्वारा जब तक यह आयु सूत्र अविच्छिन्न रूप से आता रहता है तभी तक जीवनसत्ता रहती है।

उक्त जीवनयात्रा का स्तम्भन करना नियमनवृत्तिप्रधान यम देवता का अन्यतम कार्य है एव आयुस्वरूपसमर्पक वैश्वानर अग्नि के अधिष्ठाता व्यान वायु की हृदयग्रन्थि को तोडना मृत्यु का अन्यतम कार्य है। जीवनप्रद व्यानवायु को हृदय प्रदेश से उखाड कर तदाधारेण प्रतिष्ठित प्राणापान व्यापार को छिन्न-भिन्न कर देता है। प्राण का रुक जाना (दमघुट बन जाना) यम का ही कार्य है। प्राण को शरीर के बाहर निकाल फेकना मृत्यु का ही कार्य है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो मनु-यम–मृत्यु तीनो का यम मे ही अन्तर्भाव मानना पडेगा। कारण स्पष्ट है। यम का स्वरूप परिचय कराती हुई श्रुति कहती है—

अपेत वीत वि च सर्पतातो येऽत्र पुराणा ये च नूतनाः ।
अदाद् यमोऽवसानं पृथिव्या अक्रन्निमं पितरोलोकमस्मै ।। (यजु० १२।४५) ।

"क्षत्र वै यम विशा पितर. । क्षत्र यमो विशा . ..। पितृभि सविदानोऽस्यामवसान ददाति" (शत० ७।१।१।४) इत्यादि ब्राह्मणश्रुतिप्रमाण के अनुसार यमराज को अवसान का अधिष्ठाता माना गया है। अवसान अवस्थान (नीचा स्थान) है। मनु-मृत्यु भी स्थान भेद से अवस्थान के ही कारण बनते है। यही कारण है कि यम के अवस्थान भेद से निम्नलिखित १४ स्वरूप माने जाते है—

१ २ ३ ४ ५
धर्म्मराजो–यमो–मृत्युः–सर्वभूतशयो–ऽनाक· ।
६ ७ ८ ९ १०
कालो–वैवस्वतो–व्रध्नः–परमेष्ठी–वृकोदरः ।।१।।
११ १२ १३ १४
नील–औदुम्बर–श्चित्र–श्चित्रगुप्त–इमे यमाः ।
अग्नौ सोमं हूयमानं ते नियच्छन्ति वायवः ।।२।।

प्रकृत मे इस प्रकरण से हमे केवल यही बतलाना है कि द्वादशादित्यान्तर्गत विवस्वान् नाम का आदित्य ही क्रमश इन्द्र–अग्नि–वरुण के प्रवेश से मनु–यम–मृत्यु नाम से व्यवहृत होने लगता है। तीनो ही विवस्वान् के गर्भ मे प्रविष्ट करने के कारण वैवस्वत नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार पृथिवी केन्द्र से निकल कर २१ (एकविशस्तोम) पर्य्यन्त अग्नितत्त्व उपर्युक्त **३३ आग्नेय देवता**, ३ वैवस्वत प्राण भेद भिन्न ३६ विभूतियो मे परिणत हो जाता है। इसी आधार पर "अग्नि सर्वा देवता" (ऐत० २।३) यह निगम वचन प्रतिष्ठित है। यह तो हुई प्राणाग्नि की विभूति, अब प्राणात्मिका सोमविभूति की ओर विज्ञ पाठको का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

—❀—

दशविध सोमविभूति परिचय—

अग्नि एव सोम दोनो परस्पर अभिन्न मित्र है। सम्पूर्ण विश्व मे (दृश्य जगत् की अपेक्षा से) केवल अग्नि-सोम का ही साम्राज्य है (अग्नीषोमात्मक जगत्) जैसा कि पूर्व प्रकरण मे विस्तार से बतलाया जा चुका है। अग्नि-सोम के इसी मैत्रीभाव का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि कहते है—

अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योका ।।
(ऋक्० ५।४४।१५) ।

"समानशीलव्यसनेपुमैत्री" इस सिद्धान्त के अनुसार यद्यपि अग्नि-सोम की मित्रता सम्भव नही है। कारण कि अग्नि, अन्नाद (अन्नमत्तीति अन्नाद —अन्न खाने वाला) होने से **भोक्ता** है एव सोम अन्न (अन्नाद अग्नि द्वारा खाए जाने वाला होने से—अग्निना अद्यते इत्यन्नम्) **भोग्य** है। भोक्ता-भोग्य मे तो सामान्य दृष्टि से सहज वैर माना गया है, फिर इनमे मैत्री कैसी ? इस प्रश्न के समाधान के लिए **सहचर भाव– समानायतन–स्वरूप रक्षा** ये तीन भाव ही सामने रखने पडेगे। अग्नि बिना सोम के नही रह सकता। उधर सोम बिना अग्नि के प्रकाश मे नही आ सकता, यही तीनो का सहचर भाव है। अग्नि एव सोम दोनो ही मर्त्य अमृत भेद से दो प्रकार के है। इनमे से मर्त्य (चित्य) अग्नि, एव मर्त्य सोम से तो वस्तु पिण्ड का निर्म्माण होता है। अग्नि ऊष्म भाव है, सोम शीत भाव है। दोनो का समान समन्वय ही अनुष्णाशीत भाव का प्रवर्त्तक है। फलत अनुष्ण शीतपिण्ड मे दोनो की समान मात्रा सिद्ध हो जाती है। दूसरे शब्दो मे अनुष्ण शीत भूपिण्ड मे दोनो का आयतन समान है। अमृत अग्नि, एव अमृतसोम से पिण्ड की महिमा (बहिर्मण्डल) का निर्माण होता है। ३३ अहर्गण वाले इस बहिर्मण्डल के आरम्भ के १६ अहर्गणो मे अग्नि का साम्राज्य रहता है एव १८ से ३३ तक ठीक अर्द्धमण्डल मे सोम का प्रभुत्व है। इन दोनो मित्रो का समन्वय सत्रहवे अहर्गण पर होता है। यही अग्नि मे सोम की आहुति होती है। इसीलिए "**आहूयते यत्र सोम.**" इस निर्वचन के अनुसार इस सत्रहवे स्थान को **आहवनीय** कहा जाता है। अपने अभिन्न मित्र सोम के आगमन से अग्नि का बल बढ जाता है १७ तक व्याप्त रहने वाला अग्नि सोमाहुति से प्रज्ज्वलित हो कर २१वे अहर्गण तक व्याप्त हो जाता है अतएव यज्ञस्वरूपसमर्पिका अग्नि की ३३ विभूतियो का (८ वसु– ११ रुद्र– १२ आदित्य– २ अश्विनी भेद भिन्न ३३ यज्ञिय देवताओं का) २१वे अहर्गण पर्य्यन्त सम्बन्ध मान लिया जाता है। इस प्रकार उक्त तीनो भावो से दोनो का मैत्रीभाव सम्पन्न हो जाता है। यह सब कुछ ठीक है, सोम अग्नि का मित्र है अवश्य परन्तु अन्ततोगत्वा सोम अन्न है, भोग्य है। भोग्य मित्र भोक्ता मित्र का समकक्ष नही माना जा सकता। इसी स्वाभाविक स्थिति को लक्ष्य मे रख कर श्रुति ने "**तवाहमस्मि सख्ये न्योका**" (हे अग्ने ! मै आपका नीचे दर्जे का मित्र हूँ) यह कहा है। इन दोनो मित्रो मे से क्रमप्राप्त सोमविभूति का निरूपण अपेक्षित है। सोमविभूति के पूर्ण स्वरूप परिचय के लिए तो एक स्वतन्त्र निबन्ध अपेक्षित है। ऐसी स्थिति मे प्रकरण से समन्वय के लिए इस विभूति के नाममात्र जान लेना पर्य्याप्त होगा।

ऋग्वेद के दसवे मण्डल मे सोम का बडा विशद निरूपण हुआ है। वहाँ सोम को १० भागो मे विभक्त माना गया है, दूसरे शब्दो मे सोम की १० जातियाँ मानी गई है। वे सोम जातिएँ—१—अश्ना, २—असुर, ३—आप्य, ४—अन्न, ५—भृगु, ६—अङ्गिरा, ७—सह, ८—ब्रह्मणस्पति, ९—रस, १०—यज्ञिय इन नामो से प्रसिद्ध है। इनकी आगे जा कर अवान्तर अनेक अवस्थाएँ हो जाती है। जैसा कि निम्नलिखित साधारण परिचय से पाठको को विदित हो जाएगा।

१—अश्ना सोमः (घनतालक्षणः–चतुर्विधः)

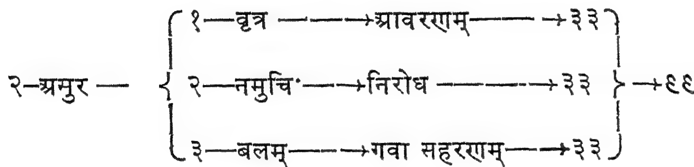
घनता लक्षण यह अश्ना सोम **ध्रुव–धर्त्र–धरुण–धर्म्म** भेद से चार भागो मे विभक्त है। प्रस्तरादि मे जो कठोरता (निबिडावयवता) देखी जाती है वह **ध्रुव** नाम के अश्ना-सोम का कार्य है। शीतर्त्तु मे इसी सोम की प्रधानता रहती है, अतएव इस ऋतु मे पानी तुषार (बर्फ) बन जाता है। अधिक शीत मे इसी सोम से शरीरावयव (अङ्गुल्यादि) स्तब्ध हो जाते है। वह अश्ना सोम जो पदार्थो को तरल बना डालता है, **धर्त्र** नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृति मे जलादि का, शरीर मे असृगादि (रुधिरादि) तरल धातुओ का स्वरूप समर्पक यही धर्त्र सोम है। यह अश्ना सोम जो पदार्थो को विरलावस्था (वाष्पावस्था) मे परिणत कर डालता है **धरुण** नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृति मे वायु आदि, अध्यात्म मे श्वास प्रश्वासादि का अधिष्ठाता यही धरुण सोम है। इसी अश्ना सोम की चौथी अवस्था **धर्म्म** है। गुणतत्त्व ही धर्म्म है। ये पदार्थो के आश्रित धर्म्म है। इस प्रकार अवस्था-भेद से एक ही अश्ना सोम चार भागो मे विभक्त हो जाता है—

१–अश्ना– {
- १—ध्रुव ———→काठिन्यजन्य ———→अश्ना, काष्ठ, अस्थि, मासम्।
- २—धर्त्र ———→तरलता जनक ———→आप, घृत, तैल, मेद, असृक्।
- ३—धरुण.———→विरलता जनक ———→वायु, तेज., श्वास, प्रश्वास.।
- ४—धर्म्मः———→गुणकर्म्म योजक.———→शब्दः, अर्थ, रूप, रस., गन्ध.।

२—असुर सोमः (विष्टम्भनलक्षणः–९९ नवतिनव विधः)

पदार्थो का स्तम्भन कर तद्गत भावो का अन्य भावो के आगमन के साथ निरोध करने वाला, स्तम्भनवृत्ति का अधिष्ठाता सोमविशेष ही **असुर** नाम से प्रसिद्ध है। इस आसुरसोम की ९९ अवस्थाएँ हो जाती है जिनका कि विशद निरूपण **सृष्टिविज्ञान–ब्रह्मविज्ञान** आदि मे द्रष्टव्य है। इनमे वृत्र नमुचि-बल नाम के तीन असुर मुख्य माने जाते है। इन तीनो मे ही ९९ अवस्थाओ का अन्तर्भाव है। वृत्र-नमुचि-बल तीनो की (प्रत्येक की) ३३ अवस्थाएँ हो जाती है। आवरण करना वृत्र का कार्य है अतएव "सर्व-वृत्वाशिष्ये" (शत १।१।३।४) इस ब्राह्मणोक्त निर्वचन के अनुसार **वृत्र** कहा जाता है। रात्रि का अन्धकार चन्द्रग्रहण, सूर्य्यग्रहण यह सब स्वर्भानु सैंडिकेय नाम से प्रसिद्ध चाद्रवृत्र एव पार्थिव वृत्र का ही कार्य है। दूसरा है नमुचि। अवरोध करना इस असुर का मुख्य कार्य है। बद्दलो मे पानी भरा रहता है परन्तु इस नमुचि-प्राण के प्रवेश से रहता हुआ भी पानी भू-पृष्ठ पर नही गिरने पाता अतएव "न मुञ्चति" (यजु० १९।३४) इस व्युत्पत्ति के अनुसार **नमुचि** नाम से व्यवहृत किया जाता है। इन्द्र-प्राण के आघात से पानी मे फेन उत्पन्न हो जाता है। इसी फेनात्मक क्षोभ से नमुचि-प्राण प्रतिमूर्च्छित हो जाता है, पानी गिर पडता है (शत० १।१।३।४)। तीसरा है बलासुर। सौर–चान्द्र–आग्नेय आदि तेजस्वी पदार्थो मे से

निकलने वाली **गौ** नाम की रश्मियो का अवरोध करना "**बलासुर**" का कार्य है। इन बल ग्रन्थियो को तोडना भी इन्द्रविशेष का ही कार्य है अतएव इन्द्र को **बलाराति** कहा जाता है। भौमस्वर्ग व्यवस्था मे बल-प्राण प्राकृतिक, अतएव बल नाम से ही प्रसिद्ध मनुष्यविध असुर ने एक बार देवगुरु बृहस्पति की गाएँ चुरा ली थी। इन्हे एक अज्ञात पर्वतकन्दरा मे छुपा दी थी। आगे जा कर सरमा नाम की शुनी (कुत्ती) की सहायता से इन्द्र ने पता लगा कर गायो को मुक्त किया था (ऋक्० ५।४५।७)। एव इसी अपराध पर इन्द्र ने मारुति सेना के बल पर बलासुर का सहार किया था। एक वस्तु का दूसरी वस्तु मे अन्नरूप मे आहुत होना ही अन्न है। यज्ञस्वरूप सम्पादक इस अन्नादान का अवरोध कर यज्ञकर्म बन्द कर देना उक्त तीनो असुरो का मुख्य कर्म्म है, अतएव इन्हे **यज्ञावरोधक** एव **अराति** नामो से व्यवहृत किया जाता है।



आन्तरिक्ष्य **मरुत्वान् इन्द्र** पर्जन्यरूप से ३३ अवस्थापन्न नमुचि प्राण का नाश करता है। स्वायम्भुव विश्वकर्म्मा नाम का **ज्ञानेन्द्र** ज्ञानज्योति रूप से ३३ अवस्थापन्न बलासुर का विनाश करता है। इस प्रकार स्वायम्भुव ज्ञानज्योतिर्मय ज्ञानेन्द्र, सौरभूतज्योतिर्म्मय मघवेन्द्र, आन्तरिक्ष्य वायवेन्द्र ही क्रमश बल–वृत्र–नमुचि का विनाश करते हैं। इसी अभिप्राय से इन्द्र को ९९ असुरो का विनाशक माना गया है जैसा कि मन्त्रश्रुति कहती है "जघान नवतीर्नव" (ऋक् स० १।८४।१३)।

३—आप्यः (जाया–धारालक्षणः)

आप्य सोम की **इन्दु-दिक्** भेद से दो अवस्थाएँ हो जाती है। इन्दुसोम **भास्वर सोम** कहलाता है, दूसरा **दिक्सोम** नाम से प्रसिद्ध है। भास्वरसोम पिण्डात्मक (सायतन) होता हुआ "**सहृदयं सशरीरं सत्यम्**" इस लक्षण के अनुसार "**सत्य**" है। **दिक्सोम पिण्डप्रान्तरूप** विशाल अन्तरिक्ष मे वायुरूप से व्याप्त होने के कारण "**अहृदयमशरीर ऋतम्**" इस लक्षण के अनुसार **ऋत** है। दोनो ही सोम–जाया धारा लक्षण है। अग्नि मे आहुत हो कर सम्पूर्ण पार्थिव पदार्थो के प्रादुर्भाविक होने से इस आप्य सोम को **जाया** (जनिप्रादुर्भावे) कहा जाता है एव ऋतरूप से सब का आलम्बन होने से **धारा** नाम से प्रसिद्ध है। लोक स्वरूपनिर्म्माण करना (पिण्ड स्वरूप सम्पादन करना) जाया लक्षण भास्वर सोम का मुख्य कार्य है एव लोकप्रान्त (बहि· सीमा) स्वरूप सम्पादक धारा लक्षण दिक्सोम है। पिण्ड भूमि है, यह सत्य है। सत्यसोमात्मक सत्यपिण्ड ऋक्सोमात्मक ऋतमहिमा के गर्भ मे ही प्रतिष्ठित रहते है। लोकनिर्म्माण (पिण्ड निर्म्माण) भी आप्यसोम (भास्वर सोम) से ही होता है एव लोक प्रान्त (लोकमहिमा) निर्म्माण भी आप्य सोम से ही होता है। वही भास्वरापेक्षया जाया लक्षण (आवेय) है, दिगपेक्षया धारालक्षण (आधार) है। आप्यसोम के इन्ही दोनो लक्षणो का दिग्दर्शन कराते हुए ऐतिह्य कहता है—

"अप्सु तं मुञ्च भद्रं ते लोकाह्यप्सु प्रतिष्ठिताः ।
आपोमयाः सर्वरसाः सर्वमापोमयं जगत् ॥"

३—आप्य {
१—इन्दु——→भास्वरसोम ——→जायालक्षण, लोकस्वरूपसम्पाद सत्य
२—दिश्य ——→दिक्सोम ——→धारालक्षण, लोकप्रान्तस्वरूप सम्पाद ऋत
}

४—अन्नम् (यज्ञलक्षण सोमः)

यज्ञ स्वरूप समर्पक सोम ही अन्नसोम नाम से प्रसिद्ध है। अन्न भेद से यह सोम **राजा–वाज–ग्रह–हवि** भेद से चार भागो मे विभक्त है। राजा सोम **बल–वीर्य्य–पराक्रम** के आधारभूत क्षत्रवीर्य्य को उत्पन्न करता है। राजा सोम के द्वारा ही **राजसूय यज्ञ** सम्पन्न होता है। राजा सोम का सम्बन्ध सूर्य्यमण्डल से है। वाज सोम उत्साह का प्रवर्त्तक है। इसका पारमेष्ठ्य मण्डल से सम्बन्ध है। इसके अधिष्ठाता परमेष्ठी के उपग्रहभूत बृहस्पति के साथ है अतएव इस वाजसोम से निष्पन्न होने वाले **वाजपेय यज्ञ** को **"बृहस्पति सव"** कहा जाता है। राजासोम जहाँ क्षत्रवीर्य्य का प्रवर्त्तक है, वहाँ वाजसोम को ब्रह्मवीर्य्य का प्रवर्त्तक माना गया है। आन्तरिक्ष्य वायव्यसोम **ग्रहसोम** है। इसके **उपांशु–अन्तर्याम–स्पृत** आदि अवान्तर ४० भेद है। इसी ग्रह-सोम से **ग्रहयाग** नाम से प्रसिद्ध सप्तसस्थ **ज्योतिष्टोम** यज्ञ का स्वरूप सम्पन्न होता है। उक्त ग्रहसोम की धारा–सव–पवित्र–अमृत ये चार प्रधान जातिएँ मानी गई है। चौथा हविसोम पार्थिव ओषधि (व्रीहियवादि) मे रहने वाला अन्न-सोम है। शरीराग्नि को, दूसरे शब्दो मे शरीर मे रहने वाले प्राण-देवताओ को इस हविसोम का अन्यतम कार्य है। इसी से **हविर्यज्ञ** स्वरूप निष्पन्न होता है।

५—अन्नम्— {
१—राजा (सौर)— —→(बलवीर्य्य-पराक्रमजनकस्य क्षत्रवीर्य्यस्य प्रदाता)
२—वाज (पारमेष्ठ्य)→(उत्साहजनकस्यवाङ्मय ब्रह्मवीर्य्यस्य प्रवर्त्तक)
३—ग्रह (आन्तरिक्ष्य)–→वायव्यश्चत्वारिशद्विध (धारा -सवा पवित्राणि-अमृतानि)
४—हविः (पार्थिव)——→(शारीर देवताना पोषक)
}

५—भृगुः–(वायुलक्षणः–शुक्रग्रहोपनीतश्चतुर्विधः)

चारो दिशाओ मे स्थिर वायुरूप मे परिणत होने वाला सोम "भृगुसोम' है। दिग्भेद से इसकी **प्राण–पवमान–मातरिश्वा**–सविता यह चार अवस्थाएँ हो जाती है। श्वास-प्रश्वास का अधिष्ठाता प्राण-सोम है, इसकी सत्ता पूर्व मे है। सूर्य्य इसका उक्थ है। रसासृग्मासादि को पवित्र रखने वाला सोम **पवमान** है। इसकी सत्ता **पश्चिम** मे है। पिण्डस्वरूप समर्पक, एव पिण्डस्वरूप रक्षक, अतएव **वराह** नाम

से प्रसिद्ध वायव्य सोम मातरिश्वा नाम से प्रसिद्ध है। इसका उक्थ अग्नि है, इसकी सत्ता दक्षिण मे है। कर्मप्रेरक वायव्य सोम **सविता** नाम से प्रसिद्ध है। इसका उक्थ चन्द्रमा है, यह उत्तर मे प्रतिष्ठित है। ये चारो ही भार्गव सोम है।

५—भृगु
- १—प्राण ———→प्राङेज
- २—पवमानः———→पश्चिमैंज
- ३—मातरिश्वा———→दक्षिणैंज.
- ४—सविता———→उत्तरैंज

६—अङ्गिरा—(ज्योतिर्लक्षणः—बृहस्पत्युपनीतः)

ज्योतिर्लक्षण सोम **अङ्गिरा** नाम से प्रसिद्ध है। यह ज्योतिसोम दूसरे शब्दो मे ज्योतिप्रवर्त्तक सोम निम्नलिखित पाँच स्थानो मे विभक्त हो रहा है—

१—सूर्य्य.———→स्वज्योति

२—चन्द्र.———→परज्योति

३—विद्युत्———→स्वज्योति

४—नक्षत्रम्———→उभयज्योति

५—वैश्वानराग्निः———→परज्योति

७—सहः—(पितृलक्षणः सापिण्ड्य स्वरूप सम्पादकः)

२८ नक्षत्रो के सम्बन्ध से २८ अवस्थाओ मे परिणत होने वाला पितृप्राणस्वरूपसमर्पक सोम **'सह'** नाम से व्यवहृत होता है। इस सह की **रेत—श्रद्धा—यश** ये तीन अवस्थाएँ हो जाती है। **शुक्र** नाम से प्रसिद्ध घनतालक्षण सहसोम **"रेत"** कहलाता है। तरलता लक्षण सत्यभाव प्रवर्त्तक सहसोम **श्रद्धा** नाम से व्यवहृत होता है एव विरलता सम्पादक पितृप्राणमूर्त्ति सहसोम **यश** नाम से व्यवहृत होता है।

७—सह
- १—रेत ———→घनता लक्षण ———→शुक्रमूर्त्ति
- २—श्रद्धा———→तरलता लक्षण ———→अब्मूर्त्ति
- ३—यश.———→विरलता लक्षण ———→प्राणमूर्त्तिः

८—रसः

सोमवल्ली मे रहने वाला, वैध ज्योतिष्टोम का स्वरूप समर्पक अत्यन्त मादक सोमरस ही "रससोम" नाम से प्रसिद्ध है। **सुरा**–सीधु–आसव भेद भिन्न जितने भी मादक पदार्थ है, बुद्धि को [बुद्धि प्रवर्तक स्नायु तन्तुओ को] नष्ट करने वाले है। परन्तु मादक पदार्थो मे एकमात्र वल्लीसोम ही ऐसा पदार्थ है, जो कि मादक होता हुआ भी बुद्धिवर्द्धक है। इस सोमरस का पान वशपरम्परा पर निर्भर है। यदि बिना वशपरम्परा के कोई व्यक्ति दुराग्रहवश सोमरस पी लेता है तो उसके कोढ निकल आते है। इस विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए प्रारम्भ मे नियत मात्रा मे इसका सेवन करना पडता है। क्रमश आत्मसात् हो जाने पर ही यह लाभप्रद होता है। रक्त मे एव शिराओ मे अन्तर्य्यामिसम्बन्ध से सञ्चार होने के अनन्तर ही इसके पुत्रादि (वशधर) सोमपान के अधिकारी बनते है। ऐसा वश-ब्राह्मणग्रन्थो मे "सोमपीथी" नाम से व्यवहृत हुआ है।

जिस सोमवल्ली से यह रस निकलना है, उसके १५ पत्ते होते है (थे)। शुक्लपक्ष की एक-एक तिथि क्रम से एक-एक पत्ता निकसित होता है। पूरे १५ दिन मे १५ पत्तो का उदय होता है। कृष्णपक्ष मे उसी क्रम से एक-एक पत्ता झडने लगता है। अन्त मे प्रतिपदा को केवल डण्ठल शेष रह जाता है। सोमवल्ली के पत्ते फास्फोरस के समान चमकीले होते है। भौमस्वर्ग मे रहने वाले देवता, एव पृथ्वी मे (भारतवर्ष मे) रहने वाले मनुष्य इस वल्ली के रस से यज्ञ–साधन कर, यज्ञबल के द्वारा ही असुर राक्षसो को परास्त करने मे समर्थ होते थे। फलत असुर-प्राण के उपासक इनके यज्ञो पर, एव यज्ञ-साधक सोमवल्ली पर निरन्तर आक्रमण किया करते थे। इस सोमवल्ली की रक्षा के लिए अत्रिपुत्र चन्द्रमा नियत किये गये थे। दु ख के साथ कहना पडता है कि देवगुरु-पत्नी तारा के अप्रिय सम्वाद को लेकर चन्द्रमा देव विरोधी बनते हुए असुरो के उपोद्बलक बन गए। चन्द्रमा की इस उदासीनता से अनुचित लाभ उठाते हुए असुरो ने सोमवल्ली को नष्ट कर दिया। आज सोमवल्ली सर्वथा अप्राप्य है। सोमवल्ली के साथ-साथ ही भौम देवता भी एकान्तत निर्मूल हो चुके है। जब तक सोमवल्ली स्वस्वरूप से सुरक्षित रही, हमारी यज्ञविद्या अक्षुण्ण बनी रही। सोमवल्ली के विनाश के साथ वास्तविक यज्ञकर्म भी सर्वथा उच्छिन्न हो गया।

९—ब्रह्मणस्पति

पारमेष्ठ्य, अम्भ नाम से प्रसिद्ध, पवित्रता सम्पादक गाङ्गेय सोम ही "ब्रह्मणस्पति" नाम से प्रसिद्ध है। इस पवित्र सोम का निरूपण करते हुए ऋषि कहते है—

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते। प्रभुर्गात्राणि पर्येषिविश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो समश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समासत्॥
(ऋक्० ९।८३।१)।

जब तक उक्त लक्षण गाङ्गेय सोम शरीर मे रहता है, तभी तक शरीर पवित्र रहता है, पूतिभाव रहित रहता है। पवित्र सोम के निकल जाने पर शरीर सडने लगता है। इसकी प्रतिष्ठा की मूलभित्ति तप्ततनू है। तात्पर्य यही है कि शरीर मे व्यान के आधार पर प्राणापान का घर्षण होता रहता है, तब तक सर्वाङ्गशरीर मे ताप लक्षण वैश्वानर अग्नि का सचार होता रहता है। जब तक शरीर मे यह ताप लक्षण अग्नि प्रतिष्ठित है, तभी तक शरीर मे पवित्र सोम प्रतिष्ठित है। अग्नि के निकलने के अव्यवहितोत्तरकाल मे ही प्राणमूर्ति यह पवित्र मोम निकल जाता है। जब तक शरीर मे रहता है, तब तक दूषित वारुण कीटाणुओ का प्रभुत्व नही होता। इसके उत्क्रान्त होते ही वारुण कीटाणुओ को प्रवेश करने का अवसर मिल जाता है। शरीर सडने लगता है। इसी सोम से भागीरथी का जन्म हुआ है। पारमेष्ठ्य तृतीय द्युलोक से सर्वप्रथम यह सोम सौर ब्रह्माण्ड का भेदन कर सूर्य्यमण्डल मे आता है। वहाँ से सजातीयाकर्षण के अनुसार सौम्या उत्तर दिशा मे जाता हुआ व्योमकेश चान्द्रमण्डल मे प्रतिष्ठित होता है। वहाँ से अलकनन्दा मे मिल कर गङ्गा रूप मे परिणत होता है। तीन विभिन्न पथो का अनुगमन करने के कारण ही यह ब्रह्मदेवी भगवती भागीरथी "त्रिपथगा" नाम से प्रसिद्ध है। जब प्राणी मुमूर्षु होता है तो इसमें ब्रह्मणस्पति सोम अल्पमात्रा मे रह जाता है। इस अल्पता को दूर करने के लिए ही उस समय आर्य ऋषियो ने गाङ्गेय पान कराना आवश्यक समझा है। इतर साधारण जल की अपेक्षा गाङ्गेय तोय मे क्या विशेषता है, यह आज परीक्षित विषय हो चुका है। गगा मे अवश्य ही कीटाणुओ के नाश की शक्ति विद्यमान है।

१०—यज्ञियः (उत्क्रान्ति लक्षणः)

प्रकृतियज्ञ मे (सौरअग्नि) मे पारमेष्ठ्य ब्राह्मणस्पत्य सोम निरन्तर आहुत होता रहता है। निरन्तर दिव्य आदित्याग्नि मे श्रद्धा नाम का चान्द्रसोम, पर्जन्य अग्नि मे सोम नाम का आन्तरिक्ष्यसोम, पार्थिव अग्नि मे वृष्टि नाम का आप्यसोम, एव शारीराग्नि मे औषधि (अन्न) रूप सोम आहुत होता रहता है। अचेतन–भौतिक–असज्ञजीवो मे (भौतिक जड पदार्थो मे) दिक्सोम आहुत होता रहता है। इसी प्रकार वैध यज्ञ मे यज्ञकर्ता यजमान आहवनीयाग्नि मे वल्लीसोम, एव पुरोडाशसोम की आहुति डाला करते है। अग्नि मे आहुत होने वाला यह सोम प्राणरूप मे परिणत हो कर अग्नि से उत्क्रान्त हो कर तत्तत् पदार्थों मे अतिशय उत्पन्न करता हुआ स्वस्व पिण्ड पदार्थ के द्युलोक मे प्रतिष्ठित होता रहता है। यह उत्क्रान्त सोम ही **यज्ञिय** नाम से प्रसिद्ध है। इसी से दैवात्मा का स्वरूप निर्माण होता है। इसी दैवात्मा के आकर्षण से आकर्षित यज्ञकर्ता यजमान का कर्म्मभोक्ता मानुषात्मा नियत आयुभोगानन्तर स्थूल शरीर के छोडने पर स्वर्गलोकस्थान नाम से प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पृथिवी के सप्तदश स्थान मे प्रतिष्ठित होता है।

पूर्व के अग्नि विभूति प्रकरण मे हमने रुद्रतत्त्व का दिग्दर्शन कराया है। रुक्ष अतएव क्षुब्ध वायव्याग्नि रुद्र है। ठीक इसके विपरीत उपर्युक्त सौम्यवायु शान्तिधर्म्मा शिव है। रुद्र-वायु ही सौम्य वायु प्रवेश से शान्त होता हुआ शिवस्वरूप मे परिणत हो जाता है। वही वायु शुद्ध आग्नेय होता हुआ रुद्र है, सोम प्रवेश से वही शिव है। इसी अभिप्राय से **"अग्निर्वारुद्र, तस्यैते द्वौ तन्वे घोरान्या च**

शिवान्या च" यह कहा गया है। दशविधसोम का निरूपण करते हुए पूर्व मे हमने ब्रह्मणस्पति नाम के जिस पारमेष्ठ्य सोम का दिग्दर्शन कराया है, उसकी अवान्तर **अम्भ–मरीचि–मर–आप** यह चार अवस्थाएँ हो जाती है। तीसरे द्यु लोक मे (परमेष्ठी मे) अम्भ का, दूसरे शब्दो मे वायु समुद्र मे सर्वथा लघुभार अम्भ नाम का पानी प्रतिष्ठित है । दूसरे द्यु लोक (सूर्य्य) मे मरीचि नाम का अग्निप्रकृति पानी प्रतिष्ठित रहता है। पृथिवी मे भौतिक भाग से प्रतिमूर्च्छित अतएव मर नाम से प्रसिद्ध पेय पानी प्रतिष्ठित रहता है। चान्द्रमण्डलगत स्नेहनधर्म्मा वृष्टि का जनक पानी ही श्रद्धा नाम से प्रसिद्ध है। यही आन्तरिक्ष्य आप है। इन्ही चारो अवस्थाओ को लक्ष्य मे रख कर श्रुति कहती है—

या दिव्या आपः पयसा सम्बभूवुर्या आन्तरीक्ष्या उतपार्थिवीर्य्याः ।
हिरण्यवर्णा यज्ञियास्तान आपः शिवा संश्योना सुहवाभवन्तु ॥

१—अम्भ ———→या दिव्या आप पयसा सम्बभूवु ।
२—मरीचि ———→हिरण्यवर्ण यज्ञिया ।
३—मर ———→उतपार्थिवीर्या ।
४—आप ———→या अन्तरिक्ष्या ।

अग्नि आङ्गिरस है, सोम भार्गव है, यम मध्यपतित है। अग्नितत्त्व, किवा अङ्गिरा तत्त्व घन–तरल–विरल इन अवस्थाओ के कारण अग्नि–वायु–आदित्य इन तीन भागो मे विभक्त है। इन्हीं तीनो अवस्थाओं के कारण सोमतत्त्व, किवा भृगुतत्त्व अब्–वायु–सोम इन तीन भागो मे विभक्त है, एवमेव मध्यपतित, अतएव उभय धर्म्मा यम की भी **उत्सादनलक्षणयम, स्तम्भनलक्षणयम, अवसानलक्षणयम** भेद से तीन अवस्थाएँ होती है।

१—अग्नि	१—अग्नि ———→घनतालक्षण २—वायु (रुद्र)———→तरलतालक्षण ३—आदित्य ———→विरलतालक्षण	→अङ्गिरा
२—वायु	१—यम ———→स्तम्भनलक्षण २—मृत्यु.———→उत्सादनलक्षण. ३—अन्तक.———→अवसानलक्षण	→यमः
३—सोम	१—आप.———→घनतालक्षण २—वायु ———→तरलतालक्षण ३—सोम ———→विरलतालक्षण	→भृगु

विश्व के यच्चयावत् पदार्थो की **उत्पत्ति**, स्थिति, **नाश** ये तीनो व्यापार अवस्थानयुक्त उपयुक्त अग्नि-सोम-यम पर ही निर्भर है, अतएव इन्हे "**पितर**" कहा जाता है। सम्पूर्ण **देवता**, सम्पूर्ण **भूत**, सम्पूर्ण **जीव** (प्रजा), इन्ही तीनो से उत्पन्न होते है, उत्पन्न हो कर इन्ही के आधार से जीवित रहते है एव अन्ततोगत्वा इन्ही तीनो मे सारे प्रपञ्च का लय हो जाता है, परन्तु इतना विवेक अवश्य कर लेना चाहिए कि सोम से उत्पत्ति होती है, अग्नि से स्थिति होती है, एव यम से विनाश होता है।

पितर.— { १—सोम (भृगु)———→प्रभवस्थान (प्रभवः)
२—अग्नि (अङ्गिरा.)——→स्थिति स्थान (प्रतिष्ठा)
३—यम (वायु)———→परायण स्थान (परायणम्) }

प्रकरणोपसहार— उपर्युक्त तीनो पितर क्रमश उत्तर-दक्षिण-मध्यस्थान मे अपनी-अपनी प्रधानता रखते है। आग्नेय पितर उक्थरूप दक्षिण दिशा मे प्रतिष्ठित रहते हुए अर्क रूप से निरन्तर उत्तर की ओर जाया करते है। दिग्विज्ञान के अनुसार दक्षिण अवाचीन (नीचा) स्थान है अतएव इन आङ्गिरस पितरो को "**अवरपितर**" कहा जाता है। सौम्य पितर उक्थ रूप से उत्तर दिशा मे प्रतिष्ठित रहते हुए अर्क रूप से निरन्तर दक्षिण की ओर जाया करते है। उत्तर पर-स्थान है, अतएव इन सौम्य पितरो को "**पर पितर**" कहा जाता है एव मध्याकाशस्थ याम्य पितर निरन्तर नीचे की ओर आया करते है। ये ही "**मध्यम पितर**" नाम से प्रसिद्ध है। प्राकृतिक नित्य पितरो का यही सक्षिप्त परिचय है। इन तीनो नित्य प्राकृतिक पितरो के पितर (जनक) **अङ्गिरा-वसिष्ठ-भृगु** ये तीन ऋषिप्राण है। आङ्गिरस (आग्नेय) पितर वासिष्ठ (याम्य) पितर, भार्गव (सौम्य) पितरो की मूल प्रतिष्ठा क्रमश. अङ्गिरा-वसिष्ठ-भृगु ऋषि ही है। सर्वविध पितर प्राण के जनक ये ही ऋषिप्राण है अतएव इन ऋषि प्राणो के लिए अवश्य ही "**पितृणांपितर**" यह कहा जा सकता है। इन पितृपितर रूप ऋषिप्राणो से उत्पन्न प्राणमात्र पितर है। पितरो से देव एव असुर-सृष्टि होती है। देवासुर के समन्वय से विश्वसृष्टि होती है। इसी सृष्टि रहस्य को लक्ष्य मे रख कर भगवान् मनु कहते है—

मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः।
तेषामृषीणामाद्यानां पुत्राः पितृगणः स्मृताः॥१॥
ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देव दानवाः।
देवैश्च जगत् सर्व चरं स्थाण्वनु पूर्वशः॥२॥

इति पितरस्वरूपविज्ञानोपनिषदि पितृणांपितरविज्ञानोपनिषत् समाप्ता



अथ
पितरस्वरूपविज्ञानोपनिषदि
दिव्यपितरविज्ञानोपनिषत्
तृतीया
[३]



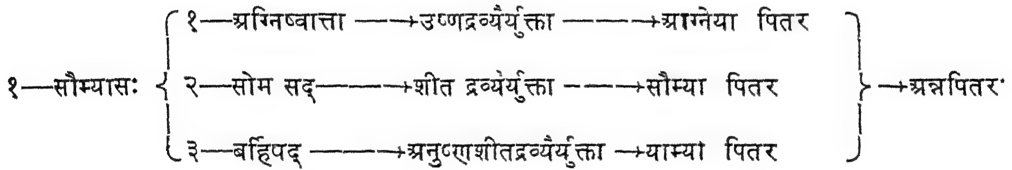
दिव्यपितर स्वरूप विज्ञानोपक्रम—

पूर्व प्रकरण मे पितरप्राण के मौलिक तत्त्व (प्रभवतत्त्व) का विस्तार से निरूपण किया जा चुका है । उसी प्रकरण मे प्रसङ्गोपात्त प्राकृतिक नित्यपितरो का यही सक्षेप मे दिग्दर्शन कराया जा चुका है । वे प्राकृतिक पितर **अग्नि–सोम–यम** नामो से प्रसिद्ध है । ये ही तीनो मौलिक पितर है । आगे बतलाए जाने वाले अवान्तर सभी पितर इन्ही तीनो मौलिक पितरो से सम्बन्ध रखते है । ये प्राकृतिक नित्य पितर प्रकृति-भेद से क्रमश **दिव्यपितर–ऋतुपितर–प्रेतपितर** इन तीनस्वरूपो मे परिणत हो जाते है । प्रत्येक विभाग मे अग्नि–सोम–यम तीनो मौलिक पितर अन्वाभक्त (शामिल) है । इन तीनो मे श्राद्धकर्म्म की अपेक्षा प्रधान रूप से प्रेतपितर ही निरूपणीय है अतएव **सूची–कटाह–न्याय** से सर्वप्रथम दिव्य एव ऋतुपितरो का ही निरूपण अपेक्षित है । इन दोनो मे भी क्रमप्राप्त पहिले दिव्य-पितरो का ही स्वरूप विज्ञ पाठको के सम्मुख उपस्थित किया जाता है ।

सौम्यास पितरः—

अन्नपितर–अन्नादपितर–अनुभयपितर भेद से दिव्यपितर तीन भागो मे विभक्त माने गए है । इन तीनो मे प्रथम अन्नपितर से पदार्थो की जीवन सत्ता रहती है । अन्नाद-पितर से जीवन सत्ता का उच्छेद होता है एव अनुभय पितर से पदार्थो का स्तम्भन होता है । प्रत्येक पदार्थ (वह जड हो अथवा चेतन) अपनी जीवन-सत्ता के लिए अन्नात्मक पितरप्राण को खाया करता है । पितरप्राण को (अन्नपितर को) खाने वाले वे

भोक्ता पदार्थ **शीत–उष्ण–अनुष्णशीत** भेद से तीन भागो मे विभक्त है। अग्निप्रधान पदार्थ उष्णप्रकृतिक है, सोमप्रधान पदार्थ शीतप्रकृतिक है, एव उभयप्रधान पदार्थ अनुष्णशीत प्रकृतिक है। दूसरे शब्दो मे आग्नेय पदार्थ उष्ण है, सौम्य पदार्थ शीत है, उभय प्रकृतिका वाक् अनुष्णशीता है। अग्निप्रधान आग्नेय पदार्थों मे आहुत होने वाले अन्न पितर "अग्नौ–आत्ता–आहुता–भवन्ति, अग्नावन्नरूपेण गृह्यन्ते" "अग्निना स्वदिताः–आस्वादिता भुक्ता वा" इस निर्वाचन के अनुसार **"अग्निष्वाताः"** नाम से प्रसिद्ध होते है। आर्द्र जलादि मे आहुत होने वाले अन्नपितर "जलादिषु आर्द्र पदार्थेषु सीदन्ति, मुक्ता सन्तास्तिष्ठन्ति" इस निर्वचन के अनुसार **सोमसद्** नाम से व्यवहृत होते है। **ओषधि-वनस्पति** आदि अनुष्णशीत किवा शीतोष्ण है। इनमे आहुत होने वाले अन्नपितर "अनुष्णशीत पदार्थेषु सीदन्ति तत्र भुक्तास्तिष्ठन्ति" इस निर्वचन के अनुसार **बर्हिषद्** नाम से प्रसिद्ध हैं। अनुष्णशीत पदार्थों के लिए सकेत भाषानुसार **"बर्हि"** शब्द प्रयुक्त हुआ है अतएव इन्हे **बर्हिषद्** कहना न्यायसङ्गत हो जाता है। अन्नरूप होने से उक्त तीनो पितरो को **सौम्यासः**✲ कहा जाता है। अग्निपदार्थ उष्णपदार्थ आग्नेय है, सोमप्रधान शीत पदार्थ सौम्य है, एव उभयप्रधान अनुष्णशीत पदार्थ याम्य है। तीनो मे से सौम्यपितर अन्नरूप से उक्त तीनो अन्नादो मे आहुत हो कर तीनो पदार्थों की रक्षा करने मे समर्थ होते है।

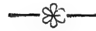


अङ्गिरसः पितर·— दूसरा विभाग अन्नाद पितरों का है। प्रत्येक पदार्थ प्राजापत्य सस्था से सम्बन्ध रखने के कारण प्रतिक्षण विस्रस्त होता रहता है। यदि यह विसर्गभाव न हो तो पदार्थ कभी जीर्ण होता हुआ नष्ट ही न हो। सम्भूति के साथ विनाश का, उत्पत्ति के साथ लय का, स्थिति के साथ गति का, आदान के साथ विसर्ग का नित्य सम्बन्ध है। भौतिक पदार्थ घन-तरल–विरल भेद से तीन भागो मे विभक्त है। सकेत भाषानुसार घन पदार्थ **हवि** नाम से, तरल पदार्थ **आज्य** नाम से, एव विरल पदार्थ **सोम** नाम से व्यवहृत होते है। घन पदार्थों की मात्रा खाने वाले पितर "हविर्भुज" नाम से प्रसिद्ध है। तरल पदार्थों को खाने वाले पितर "आज्यपा." नाम से व्यवहृत हुए है। विरल पदार्थों के भोक्ता पितर "सोमपा" नाम से प्रसिद्ध हुए है। यही तीनो कही-कही **हविष्मत – आज्यवन्त·–सोमवन्तः** इन नामो से भी पुकारे गए है। हवि घन पदार्थ है, इसका पान नहीं होता, अपितु भोजन होता है। अतएव हवि खाने वाले पितरो को **हविर्भुज.** कहना ही उचित है। आज्य (घृत) एव

✲दिव्यपितर.—परा.
ऋतुपितरः—मध्यमा.
प्रेतपितर —अवरा.

सोम दोनो ही एक प्रकार से तरल है, अत दोनो पान की सामग्री है, अतएव आज्य–सोमाहुति से सम्बन्ध रखने वाले दोनो को क्रमश आज्यपा –सोमपा कहना अन्वर्थ होता है। अन्न खाना अग्नि का काम है, अतएव अग्नि को अन्नाद कहा जाता है। उक्त तीनो पितर त्रिविध अन्नो के भोक्ता होने से ही **अन्नादपितर** नाम से व्यवहृत किए जा सकते है। अन्नादाग्नि साक्षात् अङ्गिरा हे। अतएव इनके लिए—**"अङ्गिरसो नः पितर "** यह कहा जाता है।

२—अङ्गिरसः { १—हविर्भुज ———→घनपदार्थ भोक्तार
२—आज्यपाः———→तरल पदार्थ भोक्तार.
३—सोमपा ———→विरल पदार्थ भोक्तार } →अन्नाद पितर



सुस्वधावा पितर —

तीसरी श्रेणि है अनुभय पितरो की। जो पितृप्राण न किसी को खाता है, एव न किसी से खाया जाता है, जिसका एकमात्र काम पदार्थो मे स्तम्भन भाव उत्पन्न करना है, वह **याम्यपितर ही अनुभयपितर** नाम से प्रसिद्ध है। यही अनुभय पितर **"सुकाला "-"सुकालिन "-"सुस्वधावा"** इत्यादि विविध नामो से तत्तद्विशेषस्थलो मे व्यवहृत हुआ है।

सप्त दिव्य पितरः—

इस प्रकार अन्न-अन्नाद-अनुभय भेद भिन्न तीन दिव्य पितरो की ३-३-१ इस क्रम से सात अवस्थाएँ हो जाती है। इन्ही सातो पितरप्राणो से देवप्राण उत्पन्न होता है। देवप्राण के उत्पादक होने से ही इन्हे **दिव्यपितर** कहा जाता है। अपि च प्रकृतिमण्डल को ही **आधिदैविक जगत्** कहा जाता है। उक्त सातो पितर इसी जगत् के सञ्चालक है, इसलिए भी इन्हे दिव्यपितर कहना न्यायसगत है। पूर्व की **"पितॄणांपितरविज्ञानोपनिषत्"** मे हमने ऋषिप्राण को **"पितॄणापितर "** कहा है। ऋषि भेद से ही पितरप्राणो के भिन्न-भिन्न धर्म्म हो जाते है। **अग्निष्वात्ता** नाम के अन्न पितर भृगुऋषि से उत्पन्न होते है। बर्हिषत् नाम के अन्नपितर **अङ्गिरा ऋषि** से उत्पन्न होते है, एव सोमसत् नाम अन्न पितर **अत्रिमहर्षि** से उत्पन्न होते है। समष्टिरूप से इन तीनो अन्नपितरो की प्रतिष्ठा भृगुऋषि ही है। हविर्भुक् नाम के अन्नाद पितर **पुलह ऋषिप्राण मिश्रित अङ्गिरा ऋषि** से उत्पन्न हुए है, आज्यपा नाम के अन्नाद पितरो के उत्पादक **कर्द्दम प्राणगर्भितपुलस्त्यऋषि** है, **सोमपा** नाम के अन्नाद पितर **विराट् प्राणगर्भित भृगु ऋषि** से उत्पन्न हुए है। समष्टिरूप से इन तीनो अन्नाद पितरो की प्रतिष्ठा अङ्गिरा ऋषि ही है। शेष **सुकाली** नाम से अनुभय पितरो का उपादान **वसिष्ठप्राण** माना गया है। इस प्रकार समष्ट्यात्मक तीन दिव्यपितरो के उत्पादक **भृगु–अङ्गिरा–वसिष्ठ** ये तीन ऋषि है। व्यष्ट्यात्मक सात दिव्यपितरो के **भृगु–अङ्गिरा–अत्रि–अङ्गिरा–पुलस्त्य–भृगु–वसिष्ठ** (१ २ ३ ४ ५ ६ ७) ये ऋषिप्राण उत्पादक बने हुए है, जैसा कि निम्नलिखित कोष्ठक से स्पष्ट हो जाता है—

प्राकृतिकाः–सप्त–दिव्यपितरः

१	१	अग्निष्वात्ता (दक्षिणा)	वैभ्राजा विभ्राजमाना वा	अमूर्त्ता	मध्यमा	भृगव	भार्गवा	भृगु प्रतिष्ठा	३ अत्र पितर —
२	२	बर्हिषद (मध्यमा)	सोमपथा सोमपदा वा	अमूर्त्ता	मध्यमा	आङ्गि-रसा	आङ्गि-रसा	भृगु प्रतिष्ठा	
३	३	सोमसद (उत्तरा)	सनातना सन्तानका वा	अमूर्त्ता	मध्यमा	आत्रेया.	आत्रेया.	भृगु प्रतिष्ठा	
४	१	हविर्भुज *१	मारीचा	मूर्त्तिमन्त	परा	आङ्गिरस पौलहा वा	आङ्गि-रसा	अङ्गिरा-प्रतिष्ठा	३ अत्ताद पितर —
५	२	आज्यपा *२	तेजस्विन.	मूर्त्तिमन्त	परा	पौलस्त्या कार्द्दमा वा	पौलस्त्याः	अङ्गिरा-प्रतिष्ठा	
६	३	सोमपाः*३	ज्योतिर्भासा	मूर्त्तिमन्त	परा	काव्या वैराजा वा	काव्या.	अङ्गिरा-प्रतिष्ठा	
७	१	सुकालिन *४	मानसा·	मूर्त्तिमन्त	अवरा·	वसिष्ठः	वसिष्ठ	वसिष्ठः प्रतिष्ठा	अनुभय १— पितर

इस पिण्डपितृयज्ञादि श्रौतकर्म्मो मे उपयुक्त होने वाले दिव्यपितर सात ही समझने चाहिएँ। साथ ही मे यह समझ लेना चाहिए कि अग्नि–यम–सोम ये तीन तत्त्व ही अग्निष्वात्तादि सातो पितरो के देवता है। **अग्निष्वात्ता** का **अग्नि** से सम्बन्ध है। **सोमसदो** का सोम से सम्बन्ध है, एव बर्हिषदो का **यम** से सम्बन्ध है। इसी प्रकार **हविर्भुजो** का **अग्नि से, सोमपा** पितरो का सोम से, एव **आज्यपाओ** का **यम** से सम्बन्ध है। इन ६ओ पितरो का दिव्य विभूति से सम्बन्ध है। सातवाँ सुकाली पितर देवभूति से शून्य है। इसमे केवल पार्थिव **पूषाप्राण** की ही प्रधानता है. अतएव सुकाली को **शूद्रपितर** कहा जाता है, जैसा कि आगे आने वाली **प्रेतपितरविज्ञानोपनिषत्** मे स्पष्ट हो जायगा।

*१—ऐन्द्राणा क्षत्रियाणा पितरो हविर्भुज·।

*२—वैश्वदेवाना वैश्याना पितर आज्यपा।

*३—आग्नेयाना ब्राह्मणाना पितर सोमपा।

*४—पौष्णाना शूद्राणा पितर सुकालिन।

आत्मब्रह्म की सप्तपुरुषता—

अग्नि–सोम–यम इन तीन देवताओ को हमने पितरो की प्रधानभित्ति माना है। सोम अन्न है, अग्नि अन्नाद है। अन्नादाग्नि के गर्भ मे प्रविष्ट अन्नसोम अन्नाद से परिगृहीत होता हुआ "अत्तैवाख्यायते नाद्यम्" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार अन्नाद ही रह जाता है। यम-वायु को हमने **आङ्गिरस** बतलाया है। अङ्गिरा की अवस्थाविशेष ही अग्नि है। ऐसी अवस्था मे आङ्गिरस वायुरूप यम का अन्नादाग्नि मे अन्तर्भाव मान लेने मे कोई क्षति नही होती। इस प्रकार अग्नि–यम–सोम तीनो अग्नि से गृहीत माने जा सकते है। इस आङ्गिरस अग्नि की अग्नि-वायु-आदित्य ये तीन अवस्थाएँ है। तल्लोको मे प्रतिष्ठित ये तीनो देवता है। तीनो के साथ क्रमश **वसु–रुद्र–आदित्य** देवताओ का सम्बन्ध है। वसुदेवता अग्निप्रमुख है, रुद्र देवता वायु प्रमुख है, आदित्य देवता आदित्य (इन्द्र) प्रमुख है। अग्नि की वसुरुद्र आदित्यावस्था ही पितरप्राण की देवता है। इन्ही तीनो गणदेवताओ से पितरप्राण आप्यायित होता है, अतएव वसु–रुद्र–आदित्य को **श्राद्धदेवता** माना गया है, जैसा कि आगे के प्रकरणो मे स्पष्ट हो जायगा।

पूर्व मे हमने **अग्निष्वात्ता–बर्हिषत्–सोमसत्** इन तीनो पितरो के क्रमश भृगु–अङ्गिरा–अत्रि ये तीन ऋषि बतलाए है। कही-कही अग्निष्वात्ता के ऋषि अथर्वा भी माने गए है। अथर्वा आङ्गिरस है। ऐसी स्थिति मे अथर्वा का अङ्गिरा मे ही अन्तभवि हो जाता है, फलत तीन ही ऋषि रह जाते है।

हिरण्यगर्भ (केन्द्रस्थ मनोमय असुरतत्त्व) से मनु का विकास हुआ, मनु से पितर प्राण-प्रवर्त्तक **भृगु–अङ्गिरा–अत्रि–पुलस्त्य–पुलह–मरीचि–वसिष्ठ** ये सात ऋषिप्राण प्रादुर्भूत हुए। इनसे अग्निष्वात्तादि सात दिव्य पितर प्रादुर्भूत हुए। इन सातो से अस्मदादि प्रजावर्ग का विकास हुआ। इस सृष्टिधारा क्रम की अपेक्षा हम (प्रजा) **पुत्र**[१] है। अग्निष्वात्तादि सातो दिव्य **पितर**[२] **पिता** है। मरीच्यादि सातो ऋषि[३] **पितामह** है। मनु तत्व[४] **प्रपितामह** है। हिरण्यगर्भ[५] प्रजापति **वृद्धप्रपितामह** है। विशुद्ध अक्षर[६] **अतिवृद्ध प्रपितामह** है। सर्वमूलभूत अव्यय[७] पुरुप **वृद्धातिवृद्धप्रपितामह** है। **"सा काष्ठा सा परागति"** (कठोपनिषत् १।३।११)। इस प्रकार एक ही पुराणपुरुष सात अवस्थाओ मे परिणत हो कर उक्त सतान क्रम का स्वरूप सम्पादक बन रहा है। एक अव्यय पुरुष की सपिण्डता सात धाराओ मे वितत है— "सापिण्ड्य साप्त पौरुषम्"।

१—अव्यय — [१—षोडशीप्रजापति — पुराणपुरुष——→वृद्धातिवृद्धप्रपितामह.

२—अक्षर.— { २—विशुद्ध —अक्षर पुरुष ———— →अतिवृद्ध प्रपितामह
३—हृदयावाच्छिन्नास्त्रिकलोऽक्षर ——→वृद्धप्रपितामह

१—पुत्रा
२—पितर:
३—ऋषय
४—मनु·
५—हिरण्यगर्भ
६—अक्षर
७—अव्यय

३—क्षर —
- ४—हृदयावाच्छिन्नो मनोमयोभाव ——→प्रपितामह
- ५—हृदयादुत्थिता सप्त प्राण ———→पितामह
- ६—विभिन्न ऋषि प्राणयोगादुत्पन्ना सप्तससर्गजा प्राणा ——→पिता
- ७—पार्थिवी प्रजा————————→पुत्र

उपर्युक्त सप्त दिव्यपितरो के सम्बन्ध मे एक विप्रतिपत्ति उठाई जा सकती है। वह यही है कि **विरोधाभास एव तन्निराकरण—** पुराण ने सात के स्थान मे ८ दिव्यपितर माने है। जैसा कि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट हो जाता है—

१ २ ३ ४ ५
कव्यवालोऽ—नलः—सोमो—यमश्चै—वार्य्यमास्तथा ॥
६ ७
अग्निष्वात्ता—र्बाहषदः सोमपाः —पितृदेवताः ॥१॥

वैदिक दृष्टि के अनुसार इस सख्या मे कोई विरोध नही है। कारण स्पष्ट है। कव्य, अग्नि का ही विशेषण है एव यम, अर्य्यमा का विशेषण है। इस प्रकार कव्यवाट् एव अर्य्यमा का क्रमश अग्नि–यम–मे अन्तर्भाव मान लेने से कोई आपत्ति नही होती। हाँ आपत्ति है "कव्यवाल" इस पाठ पर। यद्यपि निरुक्त परिभाषानुसार स्वर-द्वय मध्यस्थ डकार दु स्पष्ट होता हुआ लकाररूप मे परिणत हो सकता है। ऐसी अवस्था मे कव्यवाड् का कव्यवाल् बनना यथाकथञ्चित् सम्भव है। परन्तु इसका अकारान्त हो जाना (कव्यवाल-बन जाना) सर्वथा—असभव ही है। अस्तु प्रकृत मे केवल यही कहना है कि कव्यवाट् किंवा कव्यवाल् का अग्नि मे, एव अर्य्यमा का यम मे अन्तर्भाव हो जाता है, इस प्रकार पुराणमतानुसार ६ ही पितर रह जाते है, एव श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सुकाली को मिलाकर ७ पितर हो जाते है।

वैदिक तत्त्वो के आधार पर उपबृंहित पुराणशास्त्र का वास्तविक मर्म न समझते हुए कुछ एक अज्ञ महानुभावो ने पुराणपाठो को बिगाड कर उनमे मनमाना बना कर जो आर्य्य सस्कृति का विनाश किया है, वह उनका अक्षम्य अपराध है। ऐसे कुछ वचनो की ओर नीरक्षीर विवेकी पाठको का ध्यान आकर्षित किया जाता है—

अग्निष्वात्ता र्बाहषद आज्यपाः सोमपाः स्मृताः।
रश्मिपा उपहूताश्च तथैवायन्तु नः ॥१॥
तथा स्वादु सदश्चान्ये स्मृता नान्दीमुखानृप।
एते पितृगणाः ख्यातास्ते च देवसमुद्भवाः ॥२॥
आदित्या वसवो रुद्रा नासत्यावश्विनावपि।
सन्तर्पयन्ति ते चैतान् मुक्त्वा नान्दीमुखान् पितॄन् ॥३॥

(स्कन्दपुराण—नागखण्ड)।

उक्त वचनो से पाठको को पता लगेगा कि पुराण ने अग्निष्वात्तादि से अतिरिक्त रश्मिपा – उपहूता —आयन्तुन –स्वादुषद ये चार पितर बतलाए है। पुराणो के अन्य स्थलो मे एव श्रौत ग्रन्थो म कही भी उक्त चारो पितरो का उल्लेख नही मिलता। ऐसी अवस्था मे उक्त वचनो को सिवाय प्रक्षिप्त मानने के अन्य गति नही है। उपहूता एव आयन्तुन पितरो के कोई स्वतन्त्र नाम नही है अपितु **"उपहूता पितर सौम्यास"** "आयन्तु न पितर सौम्यास" (हमारे सौम्य पितर इस पिण्ड पितृयज्ञ मे पधारे) इत्यादि मन्त्रो मे अग्निष्वात्तादि शास्त्रसम्मत पितरो के आह्वान के लिए ही "उपहूता - आयन्तु न" ये पद प्रयुक्त हुए है। इसी प्रकार रश्मिपा —स्वादुपद नाम के भी कोई स्वतन्त्र पितर नही है अपितु ये भी पितरो के विशेपण ही है। अर्थानभिज्ञ सशोधको ने उपहूता आदि को भी स्वतन्त्र पितर मान कर शास्त्र का कैसा उपकार किया है ? यह पाठक स्वय विचार करे।

नन्दिपुराण मे अग्निष्वात्ता, बर्हिषद, काव्य, सुकाली, यम भेद से पाँच प्रकार के पितर माने गए है। इनमे हविर्भुक् ही यमपितर है। सुस्वधा आदि आज्यापादि पितरो के ही नामान्तर है। **हारीत-स्मृति** मे निम्नलिखित रूप से पितरो का उल्लेख मिलता है—

सोमोयमोऽङ्गिराश्चैव सोमपा पितरस्तथा।
बर्हिषदोऽग्निष्वात्ताश्च हुतादः षड्विधोगणः ।।१।।

चन्द्रमा ऋतवश्चैव मृतं योऽग्निर्दहत्यपि।
सोपोपहूताः प्राक् सोमा अनीजानाश्च ब्राह्मणः ।।२।।

इनमे से चन्द्रमादि सोमानुबन्धी पितर है। ऋतादि का आज्यपा मे अन्तर्भाव है। सुकाली पितर ही अनीजान पितर है। इस प्रकार पुराण स्मृत्यन्तरोक्त इतर पितरो का पूर्वप्रतिपादित ६ दिव्यपितरो मे ही अन्तर्भाव हो जाता है।

प्रकरणोपसहार—

ज्योति–सोम–आपः इन तीनो तत्त्वो से क्रमश **देवता–पितर–असुर** तत्त्वो का आविर्भाव होता है। ज्योति **इन्द्रतत्त्व** है, सोम **भृगुतत्त्व** है, आप **वरुणतत्त्व** है। प्रकाश देवता है। घोर अन्धकार असुर है। छाया (प्रकाश एव अन्धकार की सन्धि) पितर है। सौर प्रकाश **सावित्र** नाम से प्रसिद्ध है। जिसे आतप (धूप) कहा जाता है वही सावित्र दिव्य तेज है। इसमे इन्द्र प्रमुख देवप्राण प्रतिष्ठित रहता है, रात्रि मे असुर प्राण का साम्राज्य है, किन्तु छाया मे (जो कि छाया गायत्रतेज युक्त है) पितरप्राण प्रतिष्ठित रहता है। प्रतिफलित सौर तेज से ही गायत्री का स्वरूप सम्पन्न होता है। धूप नही है किन्तु प्रकाश है, यह सूर्य्यरश्मियो के प्रतिफलन की ही महिमा है। इसी छायामय प्रकाश को गायत्री कहा जाता है क्योकि इसी मे पितरप्राण प्रतिष्ठित है, अतएव पितृकर्म्म मे गायत्री देवता को प्रधानता दी जाती है, इसीलिए पितृकर्म्म मे दोने औधे कर दिए जाते

है। भूपिण्ड का प्रकाशयुक्त दृश्यभाग देवप्राणयुक्त है, अधोभाग असुरमय है, परन्तु यदि कहीं गर्त्त है तो उसमें रहने वाला प्राण पितर है। पितर के इन्हीं स्वरूपधर्म्मों को लक्ष्य में रख कर निम्नलिखित श्रौत-वचन हमारे सामने आते हैं—

१—**"तत्तमसः पितृलोकादादित्यं ज्योतिरभ्यायन्ति"** (शत० १३।८।४।७)।

२—**"तिर इव वै पितरः"** (शत० २।६।१।१६)।

३—**"अपक्षय भाजो वै पितरः"** (कौ० ५।६)।

४—**"पितृदेवत्यो वै कूपः खातः"** (शत० ३।६।१।१३)।

५—**"पराञ्च उ वै पितरः"** (कौ० ५।६)।

इति पितरविज्ञानोपनिषदि दिव्यपितरविज्ञानोपषित् समाप्ता





अथ
पितरस्वरूपविज्ञानोपनिषदि
ऋतुपितरविज्ञानोपनिषत्
चतुर्थी
[४]

ऋतुपितरस्वरूप जिज्ञासा—

पितर शब्द का सामान्य अर्थ है, **पदार्थो को उत्पन्न कर उनका पालन (रक्षण) करना।** इस सामान्य परिभाषा के अनुसार ऋतुओ को भी पितर माना जा सकता है। तत्तदृतुओ मे तत्तदृतुओ से ही तत्तत् पदार्थ उत्पन्न होते है। जिस पदार्थ की ऋतु (मौसम) नही होती, वह उस समय उत्पन्न नही होता। षड्ऋतुसमष्टि ही सवत्सर है, ऋतुमूर्त्ति सवत्सर ही पार्थिव पदार्थो का जनयिता है अतएव सवत्सर को **प्रजापति** कहा जाता है। इस प्रकरण मे ऋतुलक्षण पितर का ही स्वरूप बतलाया जायगा। **ऋतुपितर का क्या स्वरूप है ?** इस प्रश्न के समाधान से पहिले ऋतु का स्वरूप वेदप्रेमियो के सम्मुख उपस्थित किया जाता है।

दिग्विभाग प्रदर्शन—

"पितॄणापितर" का स्वरूप बतलाते हुए उसी प्रकरण मे अग्नि और सोम की ऋत-सत्य भेद से दो-दो अवस्थाएँ बतलाई गई है। साथ ही मे वही यह भी कहा गया है कि ऋतसोम वायुरूप है, इसकी सत्ता उत्तर मे है अतएव उत्तर को **सौम्यादिक्** कहा जाता है। ऋताग्नि वायुरूप है, इसकी सत्ता दक्षिण मे है, अतएव दक्षिण को **याम्यादिक्** कहा जाता है। उधर सत्यसोम प्रत्यक्षदृष्ट चन्द्रपिण्डात्मक है, यह अपनी मूल प्रतिष्ठा पश्चिम मे रखता है। सत्याग्नि प्रत्यक्षदृष्ट सूर्य्य पिण्डात्मक है, यह पूर्वादिक् मे प्रतिष्ठित है।

ऋतु और ऋत्विक्—

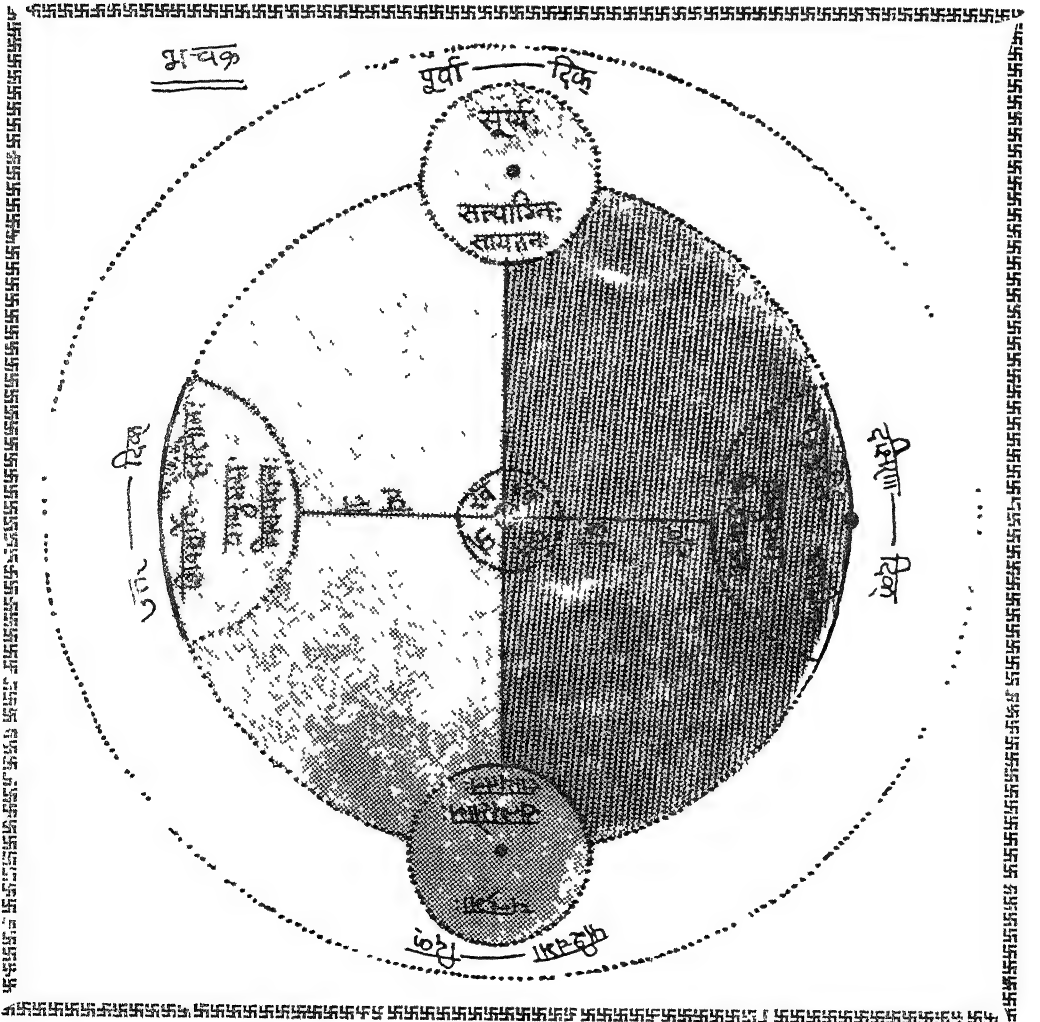
हमारी ऋतु का सम्बन्ध ऋतअग्नि एव ऋतसोम के साथ समझना चाहिए। दक्षिण से उत्तर की ओर प्रवाहरूप से जाने वाले योनिस्वरूप वायव्य ऋताग्नि मे उत्तर से दक्षिण की ओर प्रवाह रूप मे जाने वाला रेतस्वरूप वायव्य ऋतसोम निरन्तर आहुत होता रहता है। इस ऋताग्निसोम के समन्वय से जो एक अपूर्व भाव उत्पन्न होता है वही ऋतअग्नि एव ऋतसोम के सम्बन्ध से **ऋतु** नाम से व्यवहृत होता है। दक्षिणाक्रीत **होता–अध्वर्यु–उद्गाता–ब्रह्मा** नाम से प्रसिद्ध यज्ञकर्त्ता ऋताग्नि मे ऋतसोम की आहुति देकर ही यज्ञात्मा सम्पन्न करते है अतएव (ऋतुसम्बन्ध से ही) इन्हे ऋत्विक् नाम से व्यवहृत किया जाता है।

१—२—सत्याग्नि (सायतनाग्नि)——→सूर्य्यपिण्डात्मक सूर्य्यमूर्त्ति ——→पूर्वादिक्

२—२—सत्यसोम (सायतनसोम)——→चन्द्रपिण्डात्मकश्रतुर्मूर्त्ति ———→पश्चिमादिक्

३—१—ऋताग्नि (निरायतनाग्नि)→वायव्योवायुमूर्त्ति————→दक्षिणादिक्

४—२—ऋतसोमः (निरायतनसोम)→वायव्योवायुमूर्त्ति.————→उत्तरादिक्



उपर्युक्त ऋताग्नि ही यज्ञस्वरूपसमर्पक होता हुआ **यज्ञाग्नि** नाम से प्रसिद्ध है। इस ऋताग्नि रूप की **गायत्राग्नि–सावित्राग्नि–नाक्षत्रिकाग्नि** भेद से तीन अवस्थाएँ हो जाती है। इनमे तीसरे नाक्षत्रिकाग्नि की (आन्तरिक्ष्य आठ नाक्षत्रिक सर्पो के कारण) अवान्तर आठ अवस्थाएँ हो जाती है। इस प्रकार **तीन** के स्थान मे अग्नि की **दस** अवस्थाएँ हो जाती है। याज्ञिक परिभाषा के अनुसार ये ही तीनो अवस्थाएँ क्रमश **गार्हपत्याग्नि–आहवनीयाग्नि–धिष्ण्याग्नि** नाम से प्रसिद्ध है। हम कह चुके है कि ऋतु से ही सवत्सर यज्ञ का स्वरूप निर्म्माण होता है। ऋताग्नि सोमात्मक यह सवत्सरयज्ञ विभूति सम्बन्ध से सम्पूर्ण त्रैलोक्य (स्तौम्य त्रैलोक्य) मे व्याप्त है। **त्रिवृत्पञ्चदश–एकविंशस्तोमरूप पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ** इन तीनो लोको मे ऋताग्नि वायुरूप से व्याप्त है। त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न प्रात सवनाधिष्ठाता पार्थिव अग्नि गायत्र (गार्हपत्य) है। पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न, माध्यदिनसवनाधिष्ठाता आन्तरिक्ष्याग्नि (वायु) नक्षत्र सम्बन्ध से नाक्षत्रिक (धिष्ण्य) नाम से प्रसिद्ध है, एव एकविंशस्तोमावच्छिन्न, सायसवनाधिष्ठाता दिव्य-लोकस्थ अग्नि (आदित्य) सविता प्राण के सम्बन्ध से सावित्र (आहवनीय) नाम से प्रसिद्ध है।

दशविध अग्निविवर्त्त—

पूर्वोक्त दशविध ऋताग्नि मे आहुत होने वाला सोम त्रिशद्‌विध (३० प्रकार का) है। **१—दिक् सोम, १**—ब्रह्मणस्पति सोम, **१—चन्द्रसोम (भास्वरसोम)**, २७—गन्धर्व सोम भेद से एक ही सोमतत्त्व ३० अवस्थाओ मे परिणत हो जाता है। दशविध अग्नि, एव त्रिशद्विध सोम दोनो का **आवपन***वायु है। वायु सम्बन्ध से ही इन दोनो को ऋत कहा गया है। उक्त तीनो अग्नियो मे से पार्थिव गायत्राग्नि का दिक्‌सोम के साथ सम्बन्ध है एव नाक्षत्रिक आन्तरिक्ष्य धिष्ण्याग्नि का गन्धर्वसोम के साथ सम्बन्ध है। चन्द्रसोम का नाक्षत्रिक अग्नि के साथ भी सम्बन्ध है एव औषधिरूप से पार्थिव अग्नि के साथ भी सम्बन्ध है—

त्रिशद्विधसोमतत्त्व—

१—गायत्राग्नि —एकविध —पार्थिव —→दिक्‌सोमेन, चन्द्रसोमेन च सम्बद्ध ।

२—नाक्षात्रिकाग्नि —अष्टविध —आन्तरिक्ष्य —→गन्धर्वसोमेन, चन्द्रसोमेन च सम्बन्ध ।

३—सावित्राग्नि.—एकविध —दिव्य —ब्रह्मणस्पति सोमेन सम्बन्ध ।

इन त्रिविध युग्मो मे से गायत्राग्नि और दिक्‌सोम का युग्म सदा एकरूप रहता है। सदा-सर्वत्र दोनो समभाव से व्याप्त रहते है। अतएव इन दोनो से पदार्थो मे कोई विशेष तारतम्य उत्पन्न नही होता। धिष्ण्याग्नि एव गन्धर्व सोम का युग्म सदा विभिन्न मार्ग का ही अनुसरण करता रहता है। अतएव प्रतिसवत्सर मे इन दोनो अग्नि-सोमो के तारतम्य

प्रयोजिका धर्म्मत्रयी—

*सर्वत' आधार को आवपन कहा जाता है, एव एकत आधार को आयतन कहा जाता है। उदाहरण के लिए पृथिवी हमारा आयतन है, आकाश आवपन है। वायुतत्त्व अग्निसोम के चारो ओर से वेष्टित रहता है, अतएव इस वायु को हम अवश्य ही आवपन शब्द से व्यवहृत कर सकते है।

से प्रतिक्षण पदार्थों मे वैलक्षण्य उत्पन्न हुआ करता है। प्रात काल हमारा मन दूसरी भावना से युक्त रहता है, मध्याह्न मे चित्तवृति भिन्न प्रकार की ही रहती है, सायकाल मानसवृत्तियों का और ही स्वरूप रहता है, रात्रि की अवस्था कुछ और ही है। यह है स्थूल अनुमान। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाता है तो हमे मानना पडेगा कि उक्त मानस वृत्तियो का भावपरिवर्तन क्षण-क्षण मे परिवर्तित होता रहता है। इसीलिए तो पदार्थों मे (जड-चेतनात्मक उभयविध पदार्थों मे) प्रतिक्षण विलक्षणता का उदय होता है। यह धिष्ण्याग्नि एव गन्धर्वसोम युक्त चान्द्रमोम के तारतम्य का ही फल है। शेष रहता है—सावित्राग्नि, एव ब्रह्मणस्पति सोम। इन तीनो का उद्ग्राभ (चढाव) निग्राभ (उतार) अहोरात्र (दिनरात) से सम्बन्ध रखता है। अह काल मे सावित्राग्नि का उद्ग्राभ रहता है, रात्रिकाल मे सावित्राग्नि का अपचय (ह्रास) रहता है। रात्रिकाल मे ब्रह्मणस्पति सोम का उपचय (वृद्धि) रहता है, दिन मे इसका अपचय रहता है। इस प्रकार इन तीन युग्मो से पदार्थों मे **१—सर्वदासमानस्थिति, २—प्रतिक्षण-परिवर्तन, ३—अहोरात्र मे उपचयापचय**, यह धर्म उत्पन्न हो जाते है। पदार्थों मे जो एक अपरिवर्तनीय भाव देखा जाता है, वह एक स्थिर धर्म्म है, इसका प्रयोजक दिक्चान्द्रसोमगर्भित पार्थिव अग्नि है। पार्थिव अग्नि घनावस्थापन्न है, अतएव आकर्षणबल प्रधान है। इसी गुरुत्व से स्थिर धर्म्म का उदय होता है। गन्धर्व-चान्द्रसोमगर्भित आन्तरिक्ष्य नाक्षत्रिक अग्नि तरल होता हुआ वायुरूप है। वायुतत्त्व सदागति है, प्रतिक्षण विचाली है। अत इसके सम्बन्ध मे प्रतिक्षण विलक्षणता का उदय होना स्वाभाविक है। सावित्राग्नि अहोरात्र से सम्बन्ध रखता है। फलत दिन रात मे होने वाले उपचयापचय भाव का इस युग्म के साथ सम्बन्ध हो जाना स्वाभाविक कोटि मे आ जाता है।

१—गायत्राग्नियुक्तो दिक्सोम ——→स्थिरधर्मप्रयोजक ——→पार्थिव

२—धिष्ण्याग्नियुक्तोगधर्वसोमश्चन्द्रादय ——→प्रतिक्षणवैलक्षण्य प्रयोजक ——→आन्तरिक्ष्य

३—सावित्राग्नि युक्तो ब्रह्मणस्पतिसोम.——→अहोरात्रजिउपचयापचय भा प्र ——→दिव्य

— ❀ —

ऋतुसर्ग मीमांसा—

यह तो हुई सामान्य तारतम्य की कथा। अब विशेष तारतम्य पर दृष्टि डालिए। **"पवित्र ते वितत ब्रह्मणस्पते"** इत्यादि रूप से उपवर्णित, अम्भ नाम के तोय का प्रवर्त्तक पवित्र सोम पारमेष्ठ्य है। सूर्य्यमण्डल से ऊपर **तृतीय** नाम से प्रसिद्ध परमेष्ठी मण्डल मे इसकी सत्ता है। वहाँ से यह पवित्र ब्रह्मणस्पति सोम सावित्राग्निमय सूर्य्य मे निरन्तर आहुत होता रहता है। अग्निसोमात्मक इसी नित्य अग्निहोत्र के लिए—**"सूर्य्य हि वा अग्निहोत्रम्"** (शतपथ) यह कहा जाता है। सूर्य्य के चारो ओर क्रान्तिवृत्त नाम से प्रसिद्ध नियत मार्ग पर भूपिण्ड परिक्रमा लगाया करता है। इस परिक्रमा से सूर्य्य मे—**दक्षिणायन-उत्तरायण** भेद से दो भाव उत्पन्न हो जाते है। जब भूपिण्ड उत्तरगोल मे आता है तो सूर्य्य पृथिवी के अधोभाग मे दिखलाई देने लगता है, एव जब पृथिवी दक्षिणगोल मे आती है तो सूर्य्य पृथिवी के ऊर्ध्वभाग मे दिखलाई पडता

है। दक्षिणगोलस्थ सूर्य्योपलक्षित सवत्सर भाग मे पृथिवी सूर्य्य के ऊपर रहती है। ऐसी परिस्थिति मे पृथिवी परमेष्ठीमण्डल के निकट रहती है, सोममात्रा अधिक मात्रा से पृथिवी पर आती है, यही शीत ऋतु है। परन्तु जब पृथिवी उत्तरभाग मे आ जाती है तो यह परमेष्ठी से बहुत दूर हट जाती है, ऐसे समय मे पृथिवी पर सोममात्रा अत्यल्प मात्रा मे आती है, यही ग्रीष्म ऋतु है। यह सावत्सरिकतारतम्य, किवा शीत–ग्रीष्म–तारतम्य सावित्राग्नि, एव ब्रह्मणस्पति सोम से सम्बन्ध रखता है।

गन्धर्वसोम नक्षत्र भेद से भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण कर लेता है। अतएव नक्षत्र सम्बन्धी **आश्विन–कार्त्तिकादि** तत्तन्मासो मे तत्तन्नक्षत्रो के सामीप्य एव विदूर भाव से सोमाग्नि का तारतम्य हुआ करता है। जिस नक्षत्र पर पृथिवी रहती है, वह उस महीने की पूर्णिमा है। वह महिना उसी नक्षत्र के नाम से व्यवहृत होता है। नक्षत्र सन्निधिकालात्मिका पूर्णिमा तिथि मे धिष्ण्यअग्नि की प्रधानता रहती है, एव अमावस्या तिथि मे चन्द्रसोम गर्भित गन्धर्व सोम का साम्राज्य रहता है। इस प्रकार पूर्णिमा-अमा भेद से प्रत्येक मास मे अग्नि-सोम का तारतम्य दो अवस्थाओ मे परिणत रहता है। आगे जा कर चन्द्रसोम की अपेक्षा से प्रतिपक्ष मे अग्नि-सोम का तारतम्य हो जाता है। अन्ततोगत्वा यह तारतम्य प्रतिक्षण मे भुक्त हो जाता है। पहिला क्षण ऋताग्निप्रधान है तो दूसरा क्षण ऋतसोमप्रधान है। इस निदर्शन से यह सिद्ध हो जाता है कि सब ऋतुओ मे सब ऋतुओ का, दूसरे शब्दो मे प्रत्येक ऋतु मे इतर सब ऋतुओ का स्वरूप अनुप्रविष्ट रहता है। महाकालपुरुषात्मक सवत्सर ऋतुमूर्त्ति है। उत्तरायण दक्षिणायन भाग सर्वर्त्तुमूर्त्ति है। मास–पक्ष–अहोरात्र–मुहूर्त्त–घटिका–होरा–क्षण प्रत्येक सर्वर्त्तुमूर्त्ति है। ऋतु के इसी व्यापक स्वरूप को लक्ष्य मे रख कर श्रुति कहती हैं—

"ऋतवो वा असृज्यन्त। ते सृष्टा नानेवासन्। तेऽब्रुवन् न वा इत्थं सन्तः शक्ष्यामः प्रजनयितुम्। रूपैः समायामेति। त एकैकमृतुरूपैः समायन्। तस्मादेकैकस्मिन् ऋतौ सर्वेषां ऋतूनां रूपम्" (शत० ८।४।२।४)।

इस प्रकार उक्त कथन से यद्यपि प्रत्येक क्षण मे सब ऋतुओ का भाग सिद्ध हो जाता है, तथापि **ऋतु सम्बन्धी राशि-चक्र—** जैसे सूक्ष्मान्तर दशा मे भी उपयुक्त होने वाली ग्रहदशाओ का आयु-रूप से स्थूल-दशा-विभाग माना जाता हे, एवमेव ऋतुओ की भी वसन्त–ग्रीष्मादिरूप से स्थूल व्यवस्था मानना आवश्यक हो जाता है।

त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्ना पृथिवी एव एकविशस्तोमावच्छिन्ना द्यौ के सयोगजनित तारतम्य की अपेक्षा से ही वसन्तादि ६ विभाग उत्पन्न होते है। एक सवत्सर मण्डल मे (जो कि ज्योतिश्चक्र परिभाषानुसार खगोल नाम से प्रसिद्ध है) १—मेष, २—वृष, ३—मिथुन, ४—कर्क, ५—सिह, ६—कन्या, ७—तुला, ८—वृश्चिक, ९—धनु, १०—मकर, ११—कुम्भ, १२—मीन इन १२ राशियो की सत्ता मानी जाती है। खगोलीय (क्रान्तिवृत्तावच्छिन्नसध्याकाशस्थ) सम्पूर्ण नक्षत्रो को १२ विभागो मे कल्पित मान कर तत्तद्विभागावच्छिन्न तत्तन्नक्षत्रराशि (समूह) की मेष, (भेड), वृष (बैल) आदि काल्पनिक चित्रो की

कल्पना की गई। मेषवृषादि अनेक नक्षत्रो के स्तूप रूप है, अतएव इस विभाग को राशि शब्द से व्यवहृत करना न्यायसङ्गत होता है। इन १२ राशियो के साथ २७ नक्षत्रो का भोग होता है ९–९–९ इस क्रम से क्रमश ४–४–४ इन राशियो का विभाजन हुआ है। २७ नक्षत्रावच्छिन्न १२ राशियो मे से दो-दो राशियो के साथ एक-एक ऋतु का भोग माना जाता है। भगवान् अशुमाली दक्षिणगोल के परमक्रान्तिरूप **मकरवृत्त** (जो कि मकरवृत्त विज्ञान भाषा मे गायत्रीछन्द नाम से प्रसिद्ध है) पर पहुँच कर जब उत्तर की ओर अपना रुख करते है तो यह काल उत्तरायण नाम से व्यवहृत किया जाता है। इस उत्तरायण काल मे सात अहोरात्र वृत्तो मे से मध्यस्थ विष्वद्वृत्त के दोनो ओर (उत्तर–दक्षिण) ३०–३० अश का (सम्भूय ६० अश का) जो सवत्सर का अशभूत काल परिमाण है, वही **वसन्त**[१] नाम से प्रसिद्ध है। प्रत्येक राशि ३० अश की होती है। ऐसी दशा मे एक ऋतु मे ६० अश के हिसाब से २ राशियो का भोग सिद्ध हो जाता है। इस षष्ट्यशात्मक वसन्त के आगे विषुवत् से उत्तर की ओर का षष्ट्यशात्मक (६०) काल **ग्रीष्म**[२] है। वसन्त के दक्षिण भाग की ओर षष्ट्यशात्मक काल (६०) **वर्षा**[३] है। ग्रीष्म के उत्तर भाग की ओर का षष्ट्यशात्मक काल **शरत्**[४] है। वर्षा के दक्षिण भाग की ओर का षष्ट्यशात्मक (६०) काल **हेमन्त**[५] है। शरत् के सर्वान्त की ओर के उत्तर भाग मे षष्ट्यशात्मक (६०) काल **शिशिर**[६] है। इस प्रकार विषुवत् को मध्य मान कर **मध्य**[१], **उत्तर**[२], **दक्षिण**[३], **उत्तर**[४], **दक्षिण**[५], **उत्तर**[६] इस क्रम से १२ राशियो मे ६ ऋतुएँ विभक्त हो जाती है।

षड्ऋतु विभाग के अतिरिक्त ब्राह्मणग्रन्थो मे पञ्चर्त्तुविभाग को भी महत्त्व दिया गया है। यही नही, यज्ञकर्म्म मे तो प्राय पञ्चर्त्तु पक्ष को ही प्रधान माना है। इन पॉच

यज्ञानुगत पञ्चर्त्तु विभाग— ऋतुओ का अभिप्लव स्तोम के साथ सम्बन्ध है। अभिप्लव स्तोम का प्रकृत मे निरूपण नही किया जा सकता। यहाँ केवल यही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि उत्तरगोल मे जिस दिन दक्षिणायन काल का प्रवेश होता है, उस दिन से आरम्भ कर ७२ दिन का काल खण्ड किवा सवत्सरखण्ड **वर्षा** है। आगे इसी क्रम से काल खण्ड ७२-७२ क्रम से **शरत्-हेमन्त-शिशिर-वसन्त–ग्रीष्म** ऋतुओ मे विभक्त है। इस पञ्चर्त्तु पक्ष मे "हेमन्त शिशिरयो समासेन" इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार हेमन्त एव शिशिर दोनो को एक ऋतु मान लिया जाता है। मध्य मे **वर्षा**[१] है। इसके एक ओर **वसन्त**[२]–**ग्रीष्म**[३] ये दो अग्निप्रधान ऋतुएँ है, एक ओर **शरत्**[४]–**हेमन्तयुक्ता शिशिर**[५] दो सोमप्रधान ऋतुएँ है। मध्य की वर्षा मे अग्नि-सोम दोनो की समानता है अतएव इस ऋतु को वर्षा (वर्षोपलक्षितपूर्ण) ऋतु माना जाता है। जैसा कि अनुपद मे ही स्पष्ट होने वाला है। इस प्रकार पॉचो ऋतुओ के $\frac{७२}{१}$—$\frac{७२}{२}$—$\frac{७२}{३}$—$\frac{७२}{४}$—$\frac{७२}{५}$ इन पॉच द्वासप्ततियो का यदि सकलन किया जाता है—तो ३६० (तीन सौ साठ)

अहोरात्र हो जाते हे। यही एक सवत्सर का भोगकाल है। ऋतुओ का यह पञ्चविभाग अति पुरातन है। इसी आधार पर हमारे **मरुधर** प्रान्त (मारवाड) मे "पून्यू पडवा टाळै तो दिन बहत्तर गाळै" (अर्थात् यदि ज्येष्ठ शुक्ला पूर्णिमा, एव आषाढ कृष्णा प्रतिपत् इन दो दिनो मे वर्षा नही होती है तो पूरे बहत्तर दिन तक पूर्ण वृष्टि होती है, यह किवदन्ती प्रचलित है। प्रत्येक ऋतु मे ७२–७२ दिन है। इस ७२ दिवसात्मक ऋतु मे **प्रस्ताव–उद्गीथ–निधन** नाम से तीन-तीन **सामो** का उपभोग होता है। इन तीन सामो के कारण ७२ दिन के क्रमश १६–४०–१६ ये तीन विभाग हो जाते है। प्रस्ताव साम स्थानीय आरम्भ के १६ दिन तत्तत् ऋतु का **प्रात सवन काल** है। यह तत्तत् ऋतु की **बाल्यावस्था** है। यही प्रस्ताव नाम के साम का उपभोग होता है। उद्गीथ साम मध्य के ४० दिन तत्तत् ऋतु का **माध्यदिन सवन काल** होता है। यह तत्तत् ऋतु की युवावस्था है। यहाँ तत्तत् ऋतु का पूर्ण विकास रहता है। यही उद्गीथ नाम के साम रस का उपभोग होता है। उद्गीथ ही सामो का परम रस कहा जाता है। (द्रष्टव्य छान्दोग्य उपनिषद् हिन्दी विज्ञान भाष्य)। निधन साम स्थानीय उत्तर के १६ दिन तत्तत् ऋतु का **सायसवन काल** है। यह तत्तत् ऋतु की **वृद्धावस्था** है। यही निधन नाम के साम का उपभोग होता हे। बाल्य–युवा–वृद्धावस्थापन्न प्रत्येक ऋतु उक्त प्रकार से १६–४०–१६ भागो मे विभक्त रहती हुई ७२ दिन तक अपनी जीवनसत्ता रखती है♁।

षड्ऋतु स्वरूप प्रदर्शन—

प्रकारान्तर से विचार करिए। अग्नि-सोम सम्वन्ध से आपको **शीतर्त्तु** एव **उष्णर्त्तु** इन दो ऋतुओ की ही प्रधानता मिलेगी। इन दोनो मे अग्नि की तीन अवस्थाओ का नाम **वसन्त–ग्रीष्म–वर्षा** है, एव सोम की अवान्तर तीन अवस्थाएँ क्रमश **शरत्–हेमन्त–शिशिर** इन तीन भागो मे विभक्त है। वसन्त अग्नि की बालावस्था है, ग्रीष्म अग्नि की युवावस्था है वर्षा अग्नि की वृद्धावस्था है। एवमेव शरत् सोम की बाल्यावस्था है, हेमन्त युवावस्था है, शिशिर वृद्धावस्था है। इस प्रकार छ ऋतुओ का उक्त दो ऋतुओ मे भी अन्तर्भाव हो जाता है। इसी स्थिति मे आप यो भी देख सकते है कि चैत्र–वैसाख–ज्येष्ठ–आषाढ ये चार मास ग्रीष्मर्त्तु है। **श्रावण** एव **भाद्रपद** ये दो महीने शीतर्त्तु की सन्धि है। **आश्विन–कार्त्तिक- मार्गशीर्ष–पौष** ये चार मास शीतर्त्तु है। **माघ** एव **फाल्गुण** ग्रीष्मर्त्तु की सन्धि है, अतएव माघ शुक्ल पञ्चमी को ही ग्रीष्म के उपक्रम रूप वसन्त का आरम्भ दिन मान लिया जाता है। यही दोनो काल **शीतकाल–उष्णकाल** नाम से प्रसिद्ध है। ये ही दोनो शब्द निरुक्त क्रमानुसार प्रान्तीय भाषा (मारवाडी) शीतकालू- उष्णकालू रूप मे परिणत होते हुए कमश **स्यालू** (शीतकालू–शीतकाल) एव **उन्हालू** (उष्णकालू–उष्णकाल) इन स्वरूपो मे परिणत हो गए है।

चार-चार मास की एक-एक ऋतु के हिसाब से सवत्सर की तीन ऋतुएँ मानना भी श्रुतिसम्मत पक्ष है। चार मास ग्रीष्म के, चार मास वर्षा के, चार मास शीत के, इस प्रकार तीन ऋतुएँ भी स्वभाव-

♁इस विभाग के अनुसार **वसन्त** ऋतुओ मे पहली ऋतु है एव हेमन्त अन्तिम ऋतु मानी गई है। छठी शिशिर ऋतु का हेमन्त मे ही अन्तर्भाव है। इसी अर्थ का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—**"मुख वा एतदृतूना यद् वसन्तः"** (तै०ब्रा० १।१।२।६)—"अन्त ऋतूना हेमन्त." (शत० १।३।१३)।

सिद्ध है। ग्रीष्म मे अग्नि का साम्राज्य है। शीत मे सोम का आधिपत्य है। मध्य की वर्षा मे दोनो का समन्वय है, जैसा कि पूर्व मे कहा जा चुका है। इसी आधार पर वर्षा को **सर्वर्त्तु** कहा जाता है—"**वर्षा हि सर्व ऋतव**"। यही कारण है कि जो वर्ष शब्द सवत्सर रूप षड्ऋतु समष्टि के लिए प्रयुक्त हुआ है, वही वर्ष शब्द इस ऋतु से भी सम्बद्ध माना गया है। इसी आधार पर सगीतज्ञ वर्षा मे सब ऋतुओ के गायन का विधान करते है। इसी प्रकार मलिम्लुच मास के समन्वय से एक सवत्सर की ७ ऋतुएँ भी मानना न्यायसङ्गत है। इस तरह ६–३–२–७–५ आदि भेद से अपेक्षया ऋतुओ के अनेक विभाग हो जाते है। इन्ही ऋतु विभागो को लक्ष्य मे रख कर निम्नलिखित श्रुतिएँ हमारे सामने आती है—

१—"**त्रयो वा ऋतवः संवत्सरस्य**" (शत० ३।४।४।१७)।
२—"**विंशतिशतं (१२०) वा ऋतोरहानि**" (कौ० ११।७)।
३—"**पञ्चवाऽऋतवः सम्वत्सरस्य**" (शत० ३।१।४।५)।
४—"**पञ्चर्त्तवो हेमन्तशिशिरयो समासेन**" (ऐब्र० १।१)।
५—"**षड्वा ऋतवः संवत्सरस्य**" (शत० १।२।५।१२)।
६—"**सप्तर्त्तवः सम्वत्सरस्य**" (शत० ६।६।१।१४)।

पूर्व प्रतिपादित ऋतुभेद दिग्दर्शन से प्रकृत मे हमे केवल यही कहना है कि ऋतुओ के विविध स्वरूप अग्निसोम के उद्ग्राभ-निग्राभ लक्षण तारतम्य से ही निष्पन्न होते है।

उद्ग्राभ निग्राभ— उदाहरण के लिए षड्ऋतु स्वरूप पर ही दृष्टि डालिए। एक अहोरात्र मे २४ होरा है। पूर्व मे हमने अहोरात्र मे सावित्राग्नि का उपचयापचय बतलाया है। इन २४ होराओ मे दिन के १२ होरा मे से १० होरा मे सावित्राग्नि के अशो का उपचय (आवाप) होता है, एव रात्रि के १२ होरा मे से १० होरा मे सावित्राग्नि के अशो का अपचय (उद्वाप) होता है। शेष के अहोरात्र के ४ होरा मे रहने वाले सावित्राग्नि एव गायत्राग्नि की पूरी मात्रा शिशिर ऋतु मे शीर्ण हो जाती है अतएव अग्निमात्रा से सर्वथा शीर्ण यह काल "**पुन. पुनरतिशयेन शीर्णा भवन्ति यस्मिन् कालेऽग्निकरण स कालो शिशिर**" इस लक्षण के अनुसार **शिशिर**१ नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। इसके अनन्तर पूर्व प्रदर्शित क्रमानुसार उत्तर के ६० अशो से युक्त सावित्राग्नि के अश क्रमश वायु मे व्याप्त होने लगते है अतएव अग्निकणनिवासोपलक्षित यह काल "यस्मिन्कालेऽग्निकणा पदार्थेषु वसन्ता भवन्ति स कालो **वसन्त**"२ इस निर्वचन के अनुसार **वसन्त** नाम से व्यवहृत होता है। आगे के ६० अशो से युक्त वायुधरातल मे व्याप्त अग्नि आगे जा कर प्रवृद्ध होता हुआ विशेष रूप से पार्थिव पदार्थो को पकडता है अतएव प्रवृद्धाग्न्यवच्छिन्न यह काल—

१—बार-बार अतिमात्रा से अग्निकण जिस काल मे सर्वथा शीर्ण हो जाते है, वही काल किंवा कालोपलक्षित ऋतु "**शिशिर**" कहलाती है।

२—जिस काल मे अग्निकण पदार्थो मे बसने लगते है, वही काल, किवा तत्कालोपलक्षित ऋतु **वसन्त** कहलाती है।

"यस्मिन् कालेऽग्निरतिशयेन पदार्थान् ग्रसति, गृह्णाति स कालो ग्रीष्मः"

"नितरादहत्यग्निर्यस्मिन् कालेऽग्नि पदार्थान् स कालो निदाघ" इत्यादि निर्वचनो के अनुसार **ग्रीष्म** एव **निदाघ**३ शब्दो से व्यवहृत होने लगता है। अग्नि मे जा कर अग्नि और भी अधिक प्रवृद्ध होता है। यह अग्नि के उद्ग्राभ की चरम अवस्था है। अग्नि अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर **"अग्नेराप"** इस सिद्धान्त के अनुमार पानी के रूप मे परिणत हो जाता है अतएव ग्रीष्म ऋतु के अव्यवहितोत्तर काल मे ही वर्षा ऋतु का आगमन होता है। अग्नि के अतिशय मात्रा से उरु होने के कारण ही तदुपलक्षित काल को **"यस्मिन् कालेऽग्निरतिशयेनोरू इति स कालो वर्षा"**, इस निर्वचन❀ के अनुसार **वर्षा**१ नाम से प्रसिद्ध है अथवा द्यु-अग्नि से ताडित होकर प्रतिमूर्च्छित होने वाला पार्थिव अग्नि ही भूपिण्ड की ओर आता हुआ अब्रूप मे परिणत होता है, इसलिए भी इस ऋतु को—**"अग्निभिः प्रत्याहता अग्नय प्रतिमूर्च्छिता आपो भूत्वा पृथिवीमभिवर्षन्ति सिञ्चति इति तदुपलक्षित कालो वर्षा**·२", इस निर्वचन के अनुसार **वर्षा** शब्द से व्यवहृत करना न्याय प्राप्त है। इस प्रकार **वसन्तो भवन्ति, अतिशयेनग्रसन्ति, अतिशयेनउरव**, इन निर्वचनो से **वसन्त–ग्रीष्म–वर्षा** भेद से एक अग्नि का उद्ग्राभ (चढाव) तीन भागो मे परिणत हो रहा है।

वर्षा अग्नि के उद्ग्राभ की चरमसीमा है। इसके अनन्तर क्रमश अग्नि का निग्राभ होने लगता है। जिस प्रकार वसन्त आदि मे अग्नि का क्रमश उपचय होता है, ठीक इसके वितरीत शरदादि आगे की तीन ऋतुओ मे क्रमश अग्नि का अपचय (ह्रास) होने लगता है। अग्निकणो के शीर्ण हो जाने से वायु की जो प्रथम अवस्था रहती है तदुपलक्षित काल ही **"यस्मिन् काले पदार्थानामग्निकणा शीर्णा भवन्ति स काल शरत्**३", इस निर्वचन के अनुसार **शरत्** नाम से व्यवहृत होता है। आगे जा कर अग्नि-

३—जिस काल मे अग्निकण विशेष रूप से पदार्थो को ग्रहण कर लेते है, वही काल **ग्रीष्म** नाम से व्यवहृत होता है। इस काल मे अग्नि विशेष रूप से पदार्थो को जलाने लगता है, अतएव इसे (ग्रीष्म) को **निदाघ नाम** से भी व्यवहृत किया जा सकता है।

❀"जिस काल मे अग्नि अतिशय मात्रा से उरु (विपुल-प्रवृद्धतम) बन जाता है वही काल वर्षा कहलाता है।"

१—पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'उरु' शब्द को 'वर्ष' आदेश हो जाता है।

२—अग्नियो के परस्पर प्रत्याघात से मूर्च्छित अग्नि ही अब् (पानी) बन कर बरसने के कारण वर्षा कहा जाता है।

३—जिस काल मे अग्निकण पदार्थो मे से शीर्ण हो जाते है, वही काल किवा ऋतु शरद् कहलाती है।

कण और भी अधिक मात्रा मे हीन हो जाते है। यही ऋतु **"यस्मिन् कालेऽग्निकणा हीनतां गता भवन्ति स कालो हेमन्त १"**, इस निर्वचन के अनुसार **हेमन्त** नाम से व्यवहृत होती है। अन्ततोगत्वा अग्निभाग सर्वथा नि शेष हो जाता है यही ऋतु **"यस्मिन् कालेऽग्निकणा पुनपुनरतिशयेन शीर्णा भवन्ति स काल शिशिर २"**, इस निर्वचन के अनुसार **शिशिर** नाम से व्यवहृत होता है। सोम अमृततत्त्व है, अतएव इसे नित्य माना जाता है। इधर अग्नि को (वशकलनधर्म्मा होने से) मरणधर्म्मा माना जाता है। परिवर्त्तन मर्त्याग्नि का ही सम्भव है, अमृत सोम का नही। यही कारण है कि ऋतु सम्बन्ध मे अग्नि का ही उपचय-अपचय बतलाया गया है, इसीलिए ऋतुविज्ञानाचार्यों ने छओ ऋतुओ को अग्नि शब्द से व्यवहृत करने मे कोई आपत्ति नही समझी है। "अग्नयो वा ऋतव" (शत० ६।२।१।३६) इसी श्रौत ऋतु विज्ञान का निरूपण करते हुए अभियुक्त कहते है—

शीतर्त्तु मासाश्चत्वारो द्वौमासौ सन्धिरुत्तरौ।
उष्णर्त्तु मासाश्चत्वारो द्वौमासौ सन्धिरुत्तरौ ।।२।।

चतुरश्चतुरो मासान् स्वात्यमासमकालतः ।
शीतोष्णवर्षाकालाख्याः सम्भवन्त्यृतवस्त्रयः ।।३।।

शीतकालो वत्सरार्द्ध याम्यगोलस्थ सूर्य्यकम् ।
उष्णकालो वत्सरार्द्ध सौम्यगोलस्थ सूर्य्यकम् ।।३।।

ज्येष्ठा सन्नात्वमावास्या ज्येष्ठासन्ना च पूर्णिमा ।
आभ्यांचन्द्रमसः कालो वत्सरे कल्पते द्विधा ।।४।।

एक एव ऋताग्निर्वा सोमतो ह्रासवृद्धितः ।
ऋतुराख्यायतेषोढा ऋताः सोमाग्नि वायवः ।।५।।

वसन्तः स "वसन्तः"[1] स्युर्व्ययशेषा यदाग्नयः ।
"ग्रीष्मः"[2] स यत्र गृह्णीयुर्भूतान्यन्तर्बहि बलात् ।।६।।

वरीयांसोऽग्नयो "वर्षा"[3] स्त्रय उद्ग्राभलक्षणाः ।
उत्तरा अग्नि निग्राभ लक्षण ऋतवस्त्रयः ।।७।।

१—जिस ऋतु मे अग्निकण अधिक मात्रा से हीन हो जाते है, वही काल हेमन्त है।

२—जिस काल मे अग्निकण निःशेष रूप से शीर्ण हो जाते है, वही काल, शिशिर कहलाता है।

४
"शरत्" स आयादधिकं शीर्य्यन्ते तेऽग्नयो यतः ।
५
स "हेमन्तो" ह्रासिमन्तो वायौ यत्राग्रयो बहिः ।।८।।
यत्राग्नयोऽतिशयतः शीर्णाः स्युः "शिशिर"स्तु सः ।
इत्थं वायौ सोमतोऽग्निर्वर्द्धतेऽपि च हीयते ।।९।।

(श्री गुरुप्रणीत–पितृ समीक्षा) ।

उक्त सन्दर्भ का निष्कर्ष यही हुआ कि ऋतअग्नि-ऋतसोम की मिलितावस्था का नाम ऋतु है। अग्निसोममयी यह ऋतुसमष्टि ही जगत् का उत्पादन कारण बनती है। तत्तद् ऋतु मे तत्तत् पदार्थो का दर्शपूर्णमास हुआ करता है। शरद् ऋतु तेजोमूर्त्ति **घृत** का पूर्णमास है, हेमन्तादि मे घृत का दर्श (अवसान) काल है। वसन्त मे **मधु** का पूर्णमाम है, ग्रीष्मादि मे इसी का दर्श है। हेमन्त मे **दधि** का पूर्णमास है, वसन्तादि मे इसका दर्श है। शरद् मे **अमृत** (सोम) का पूर्णमास है, वसन्तादि मे इसका दर्श है। इस प्रकार उत्पन्न होने वाले पदार्थमात्र के लिए दर्श-पूर्णमास भेद से ऋतुव्यवस्था सर्वथा नियत है। जिस पदार्थ की जब ऋतु आती है तभी वह पदार्थ उत्पन्न होता है। अऋतु (असमय) मे यदि उसकी उत्पत्ति हो जाती है तो वह लोक-सस्था के बिए अनिष्टकर बन जाता है। हमारा (अस्मदुपलक्षित जड-चेतनोभयविध पदार्थ मात्र का) उपादान ऋतुतत्त्व ही है। इसी विज्ञान को लक्ष्य मे रख कर उपनिषत् श्रुति कहती है—

"विचक्षणाद् रेतो ऋतव आभृतं, पञ्चदशात् प्रसूतात् पित्र्यवतस्तन्मा पुसि कर्त्तर्येरयध्वम् ।......तन्म ऋतवो अमर्त्यव आभरध्वम् ।......ऋतुरास्मि, आर्त्तवोऽस्मि" इति । (कौ०उ० १ अ०।३ख०) ।

'ऋतुकाले प्रयोगादेकरात्रोषित कलिल' भवति (गर्भोपनिषत्) इत्यादि श्रुत्यन्तर भी उक्त अर्थ का ही समर्थन करता है। स्त्री के शोणित मे जब ऋतु-भाव का विकास होता है तो वह स्त्री ऋतुमती कहलाती है। ऋतु का पूर्ण विकास काल ही गर्भाधान-काल माना गया है। इस प्रकार जब ऋताग्निसोममय ऋतु-तत्त्व ही सब पदार्थो का उपादान है तो ऐसी दशा मे सोमगुणक ऋताग्नि को, किवा अग्निगुणक ऋतसोम को **"पितर"** शब्द की पूर्वोक्त व्याप्ति के अनुसार अवश्य ही **"पितर"** शब्द से व्यवहृत किया जा सकता है।

ऋतुकालानुगत सृष्टि विवर्त्त—

यद्यपि उक्त कथनानुसार छओ ऋतुओ को ही पितर शब्द से सम्बोधित किया जा सकता है, तथापि यदि सूक्ष्म विचार किया जाता है तो सोम–प्रधान शरत्–हेमन्त–शिशिर इन तीन ऋतुओ को ही प्रधानरूप से पितर मानना युक्तियुक्त होता है। पितर-प्राण सौम्य है, किवा सौम्यप्राण ही पितर है। शरदादि तीनो मे सौम्य-प्राण की ही प्रधानता है। यह अग्नि का अपचय काल है अतएव इन सौम्यऋतुपितरो के

ऋतुपितृ स्वरूप परिचय -

लिए—"अपक्षय भाजो वै पितर" (कौ० ५।६) यह कहा जाता है। उधर वसन्त–ग्रीष्म–वर्षा इन तीन ऋतुओ मे देवप्राणस्वरूपसमर्पक अग्नि की प्रधानता है अतएव वसन्तादि तीनो ऋतुओ को हम **देव** शब्द से सम्बोधित कर सकते है। इसी प्रकार ऋताग्निप्रधान उत्तरायणकाल दिव्य है, ऋतसोमप्रधान दक्षिणायन काल पित्र्य है। अग्निप्रधान शुक्लपक्ष दिव्य है, सोमप्रधान कृष्णपक्ष पित्र्य है। अग्निमय अह काल दिव्य है, सोममय रात्रिकाल पित्र्य है। अह काल मे भी अग्न्यादान पूर्वाह्ण काल दिव्य है, अग्निविसर्ग रूप अपराह्ण काल पित्र्य है। आगे जा कर अग्निसोम के उपचयापचय की सूक्ष्म व्याप्ति मे यह देव-पितर व्यवस्था क्षणो तक अनुधावन करने मे समर्थ हो जाती है, जैसा कि पूर्व मे ऋतु की सर्वता बतलाते हुए विस्तार से प्रतिपादन हो चुका है। इसी **ऋतुपितरविज्ञान की उपनिषत्** (मूल सिद्धान्त) को लक्ष्य मे रख कर अग्न्याधेय श्रुति कहती है—

"वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः–ते देवा ऋतवः। शरद्धेमन्तः शिशिरः–ते पितरः। य एवापूर्य्यतेऽर्द्धमासः, स देवाः। योऽपक्षीयते, स पितरः। अहरेव देवाः, रात्रिः पितरः पुनरह्नः पूर्वाह्णे देवाः, अपराह्णः पितरः। यत्रोदगावर्त्तते देवेषु तर्हि भवति। अथ यत्र दक्षिणावर्त्तते, पितृषु तर्हि भवति।XXXX। अमृता देवाः, अपहत पाप्मानो देवाः। मर्त्याः पितरः, अनपहतपाप्मानः पितरः" इति।

(शत० २।३।१।२–४)।

शरदादि भेद भिन्न इन ऋतुपितरो के सम्बन्ध मे ब्राह्मण ग्रन्थो मे भिन्न-भिन्न प्रकार की व्यवस्थाएँ उपलब्ध होती है। उन सबका एकमात्र लक्ष्य ऋतुपितर ही है, जैसा कि तत्तद्वचनो मे स्पष्ट हो जाता है।

१—"देवा(ॐ) वृत्रं जघ्नुः ते नो व्यजयन्त। अथ यानेषामस्मिन् सङ्ग्रामेऽघ्नन्, पितृयज्ञेन समैरयन्त। पितरो वै त आसन। तस्मात् पितृयज्ञो नाम। तद् वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः, एते ते ये व्यजन्त। शरद्धेमन्तः शिशिरः, एत उ ते यत् समैरयन्त"

१—ॐदेवताओ ने वृत्र को मार डाला। उन लोगो ने हमारे ऊपर विजय प्राप्त कर लिया। अनन्तर इनमे से जिन पितरो को इस सग्राम मे (देवताओ ने) मार डाला, उन्हे पितृयज्ञ से पुन प्रेरित किया। (जिन्हे पुन प्रेरित किया) वे पितर ही तो थे। इसीलिए (देवताओ का यह कर्म्म) पितृयज्ञ नाम से प्रसिद्ध हुआ। (६ ऋतुओ मे से देवरूप) वसन्त–ग्रीष्म–वर्षा ये तीनो ही वे है जिन्होने कि (वृत्र पर) विजय प्राप्त की थी। शरत्–हेमन्त–शिशिर ये तीनो वे ही पितर है जिन्हे कि (पितृयज्ञ मे) प्रेरित किया था।

२—❀"तद्ये सोमेनेजानाः, ते पितरः सोमवन्तः" (शत० २।६।१।७)।

३—"स पितृभ्यः सोमवदभ्य षट्कपालं पुरोडाशंनिर्वपति" (शत० २।६।१।४)।

४—"सोमार्य वा पितृमते षट्कपालं पुरोडाशं निर्वपति"

५—"षड्वा ऋतवः पितरः" (शत० १३।८।१।२०)।

६—"यद्दतवः पितरः प्रजापतिं पितरं पितृयज्ञेन अयजन्त, तत् पितृयज्ञस्य पितृयज्ञत्वम्" (तै०ब्रा० १।४।१०।८)।

७—"ऋतवः खलु देवाः पितरः। ऋतूनेव देवान् पितृ्न् प्रीणाति। तान् प्रीतान् मनुष्याः पितरोऽनुप्रपिपर्ते" (तै०ब्रा० १।३।१०।५)।

८—"अथ ये दत्तेन पक्वेन लोकं जयन्ति, ते पितरो बर्हिषदः" (शत० २।६।१।७)।

९—"अथ ये ततो नान्यतरच्च न, यानग्निरेव दहन् स्वदयति, ते पितरोऽग्निष्वात्ताः" (शत० २।६।१।७)।

१०—"पितृ लोकः सोमः" (कौ० १६।५)।

फल्गुनी नक्षत्र से आरम्भ कर **आषाढा** नक्षत्र पर्य्यन्त वसन्त-ग्रीष्म इन दो ऋतुओ का भोग होता है। इन दोनो की सत्ता दक्षिण मे है। ये ऋतुएँ **अग्निप्रधान** है। विज्ञान भाषानुसार दक्षिण भाग नीचा कहलाता है, अतएव ये ऋतुपितर **"अपरपितर"** कहलाते है। **आषाढा** नक्षत्र से आरम्भ कर **कृत्तिका** नक्षत्र

२❀—जो कि सोम से यजन करने योग्य (पितर) है वे ही सोमवन्त पितर है।

३—वह अध्वर्यु सोमवान् पितरो के लिए षट्कपाल पुरोडाश का निर्वाप करता है।

४—पितृमान् सोम के लिए षट्कपाल पुरोडाश का निर्वाप करता है।

५—छ ऋतुएँ ही पितर है।

६—ऋतु पितरो ने पितृयज्ञ से जो पितरप्रजापति का यजन किया यही तो पितृयज्ञ का पितृयज्ञत्व है।

७—ऋतु ही पितृदेवतामय है। (पितृयज्ञ से) ऋतुरूप पितर देवताओ को ही तृप्त करता है। पितरो को तृप्त होते देख कर (पितरो के तृप्त हो जाने पर) इन पितरो का अनुगमन करने वाले मनुष्य तृप्त होते है।

८—जो दत्त पक्व द्रव्य से लोक विजय करते है वे ही पितर बर्हिषद है।

९—जिन्हे अग्नि ही जलाता हुआ अपना स्वादु द्रव्य बनाता है, वे पितर अग्निष्वात्ता है।

१०—पितरो की आवास भूमि सोम है।

पर्य्यन्त वर्षा-शरद् इन दो ऋतुग्रो का भोग होता है। ये दोनो ऋतु **यमप्रधान** है। मध्यस्थ होने से इन ऋतुपितरो को **"मध्यम पितर"** कहा जाता है। **कृत्तिका** नक्षत्र से आरम्भ कर **फल्गुनी** नक्षत्र पर्य्यन्त हेमन्त–शिशिर इन दो ऋतुग्रो का भोग होता है। **ये दोनो सोमप्रधान** है।

सोम की सत्ता उक्थरूप से उत्तर मे है। उत्तर स्थान पर स्थान ऊँचा स्थान कहलाता है ग्रतएव यह ऋतुपितर **परपितर** नाम से प्रसिद्ध है। ग्राधिदैविक मण्डलस्थ ये ही त्रिविध पितर क्रमश **पिता–पितामह–प्रपितामह** है।

१—१—वसन्त.
२—२—ग्रीष्म
} →दक्षिणस्थोऽग्नि —ग्रग्निष्वात्ता पितर —ग्रवरा.—**"पिता"**

—❀—

३—१—वर्षा
४—२—शरत्
} →मध्यस्थो यमः—बर्हिषदः पितर —मध्यमा —**"पितामह."**

—❀—

५—१—हेमन्त
६—२—शिशिर
} →उत्तरस्थ सोम —सोमसद पितर --परा —**"प्रपितामह "**

—**—

उक्त छग्रो ऋतुपितरो का मूलाधार सातवाँ सम्वत्सर प्रजापति है। यही इन पितरो का परम एव ग्रादि पितर है। इसी ग्रभिप्राय से इसके लिए **"सवत्सरो वै सोम पितृमान"** (तै०ब्रा० १।६।८।२) यह कहा जाता है। पाठको को स्मरण होगा कि पूर्व की **"दिव्यपितरविज्ञानोपनिषत्"** मे हमने ग्रव्यय-ग्रक्षरादि भेद से सातो पितरो की क्रमिक व्यवस्था बतलाई है। ठीक उसी प्रकार ऋतुपितरो के सम्बन्ध मे भी सापिण्ड्य प्रवर्त्तक सातो पितरो का क्रमश ग्रवस्थान समझना चाहिए। वसन्त ऋतु **पुत्र**[१] है, ग्रीष्म **पिता**[२] है, वर्षा **पितामह**[३] है, शरत् **प्रपितामह**[४] है, हेमन्त **वृद्धप्रपितामह**[५] है, शिशिर **ग्रतिवृद्धप्रपितामह**[६] है, एव सर्वालम्बन सवत्सर **वृद्धातिवृद्धप्रपितामह**[७] है। जैसा कि निम्नलिखित परिलेखो से स्पष्ट हो जाता है—

ऋतुपित्र्यनुगता सप्तपुरुषता—

—**—

१—"सवत्सरो वै सोम पितृमान्"——————→प्रपितामह ———→परा

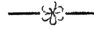
२—"मासा वै पितरो बर्हिषद "———————→पितामह ———→मध्यमा

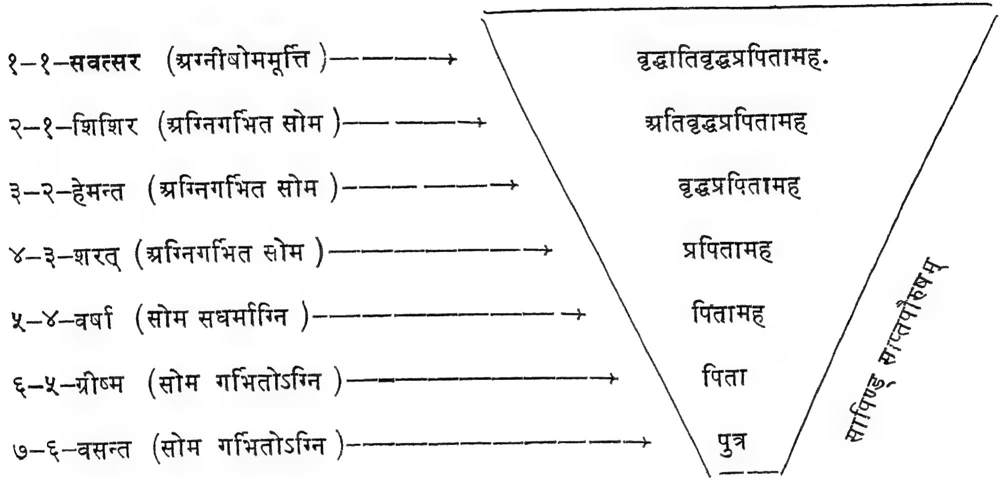
३—"ग्रर्द्धमासा वै पितरोऽग्निष्वात्ता·"————————→पुत्र ————→ग्रवरा

१ —"अहोरात्रे—अग्नी गोमौ—दिवस"— ————————→स पिता

२ —"पूर्वापरपक्षौ—अग्नीषोमौ—मास"————————→स पितामह

३—"उदग्दक्षिणायने—अग्नी गोमौ—सवत्सर"————→प प्रपितामह.







१—१—वसन्त ————————→सोमपा पितर

२—२—ग्रीष्म ————————→आज्यपा पितर.

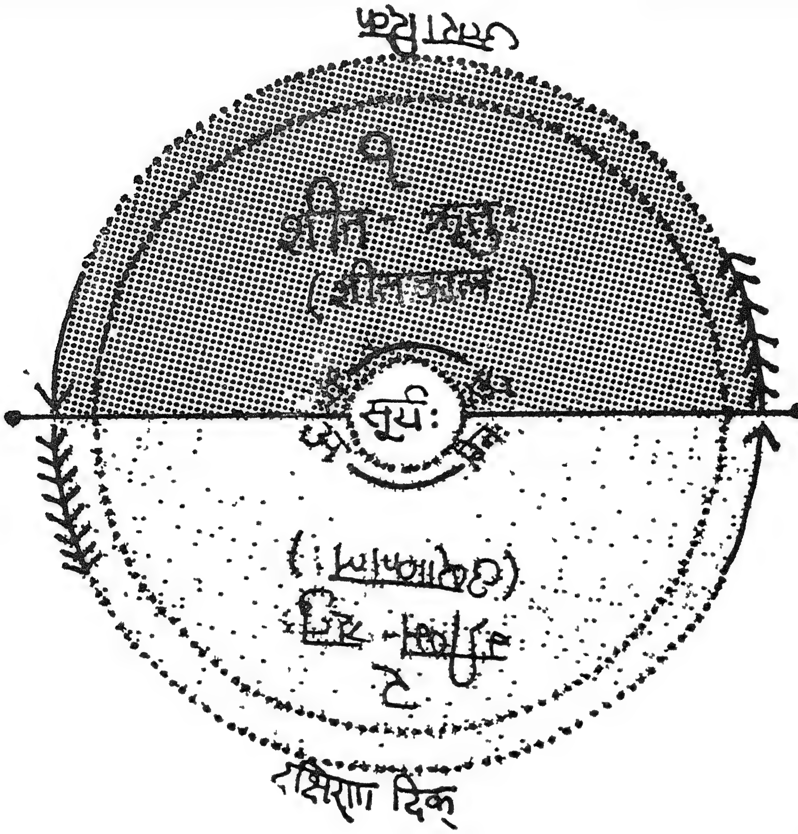
३—३—वर्षा ————————→हविर्भुज. पितर

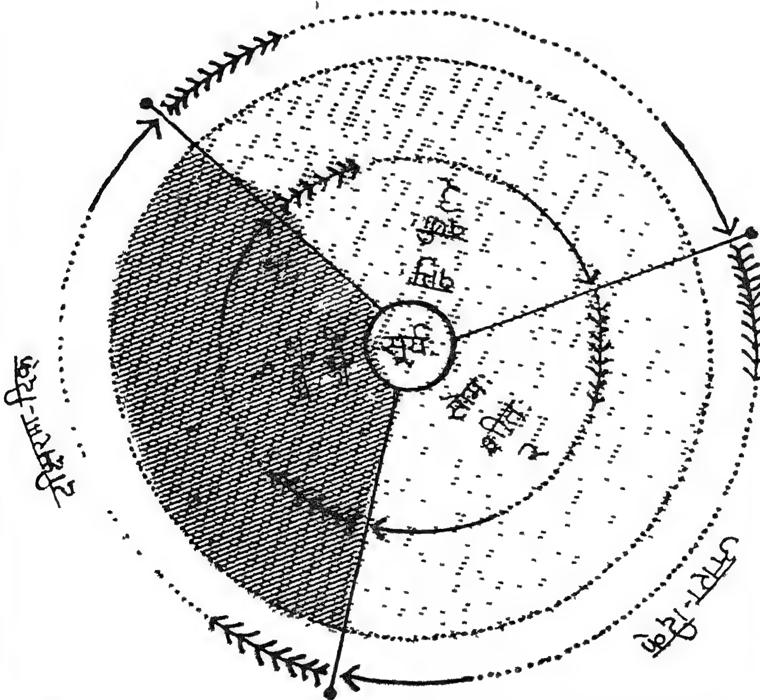
४—१—शरत्————————→सोमसद् पितर

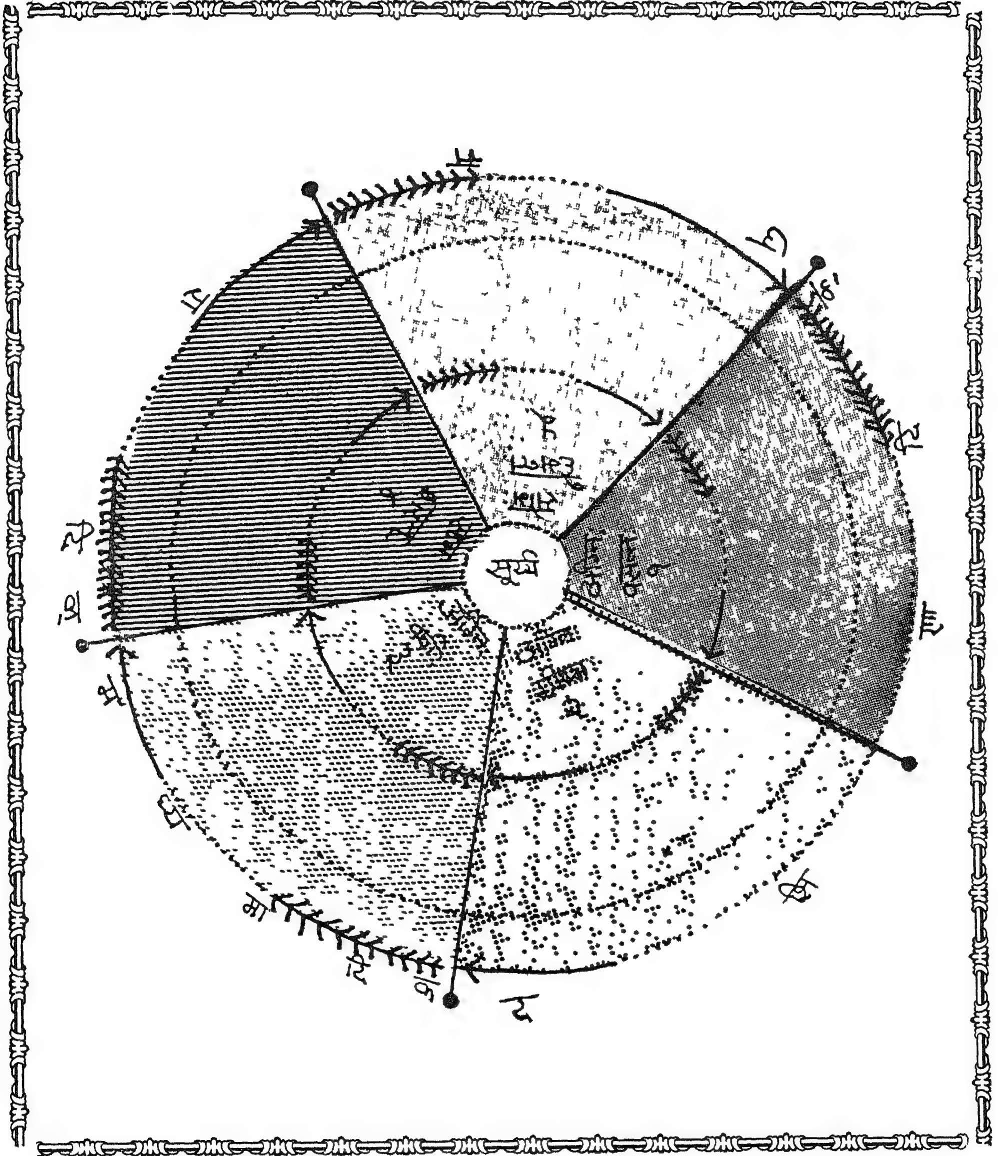
५—२ हेमन्त ————————→बर्हिषद पितर

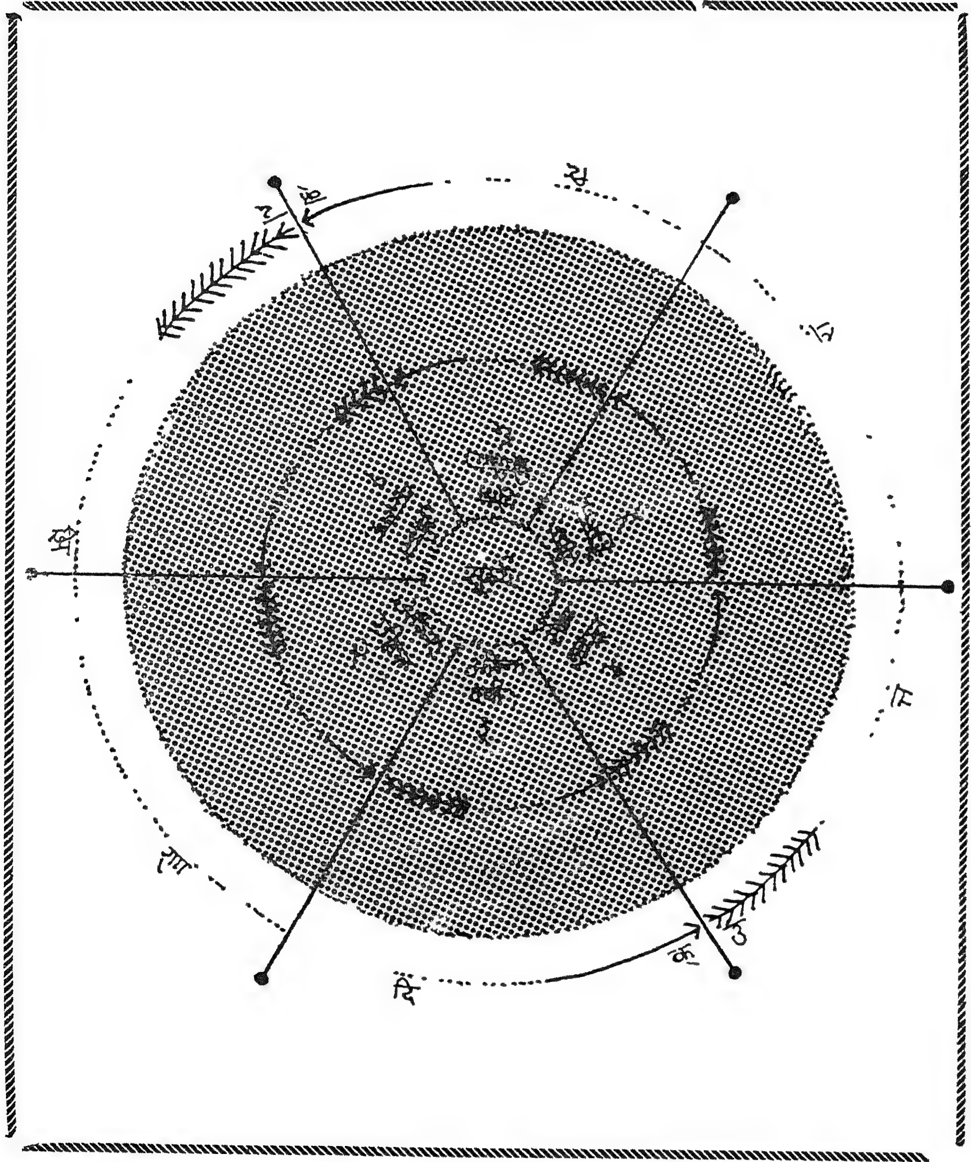
६—३—शिशिर ———————— अग्निष्वात्ता पितर

इति "वसन्तादि षड्ऋतुभ्यो नमः"


शीत- ऋतु
(शीतकाल)
सूर्यः
दक्षिणा दिक्


सूर्यः


सूर्य


कृ
दि

इति—पितरस्वरूपविज्ञानोपनिषदि ऋतुपितरविज्ञानोपनिषत् समाप्ता





अथ

पितरस्वरूपविज्ञानोपनिषदि प्रेतपितरविज्ञानोपनिषत्

पञ्चमी

[५]

~~~~~~~~~~~~

लोकानुगत पितृस्वरूप परिचय—

यद्यपि पूर्व प्रकरण से पितृस्वरूप गतार्थ हो जाता है तथापि विषय की गहनता हमे इसके लिए बाध्य करती है कि प्रेत—पितरो के स्वरूप निरूपण से पहिले सिहावलोकन न्याय से सक्षेपत पुन एक बार पितरप्राण के सामान्य स्वरूप की ओर विज्ञ पाठको का ध्यान आकर्षित किया जाय।

पूर्व की **पितृणापितर विज्ञानोपनिषत्**, **दिव्यपितर विज्ञानोपनिषत्**, **ऋतुपितर विज्ञानोपनिषत्** इन तीनो उपनिषदो मे प्रकीर्णक (फुटकर) रूप से पितरप्राण का स्वरूप पाठको के सम्मुख उपस्थित किया गया है। इस प्रकरण मे पूर्वप्रतिपादित उन प्रकीर्णक विषयो का सग्रह किया जा रहा है। **पितृणांपितर विज्ञानोपनिषत्** प्रकरण के आरम्भ मे हमने **पर–मध्यम–अवर** भेद से तीन प्रकार के पितर बतलाए है एव इन्ही तीनो को क्रमश **नान्दीमुख–पार्वण–प्रेत** नामो से व्यवहृत किया है। इन तीनो मे नान्दीमुख—पितर द्यु लोक मे प्रधान रूप से प्रतिष्ठित है अतएव इन्हे **दिव्यपितर** कहा जाता है। पार्वण पितरो की मूल प्रतिष्ठा अन्तरिक्ष है। अन्तरिक्ष ऋतवायु प्रधान है, अतएव इन आन्तरिक्ष्य पितरो को **ऋतुपितर** कहा जाता है। ये दोनो आधिकारिक पितर है। नित्य पितर है। सृष्टि सञ्चालन करना इनका मुख्य कर्म्म है। पूर्व के दोनो प्रकरणो मे क्रमश इन्ही तीनो नित्य पितरो का निरूपण हुआ है। **अश्रुमुख** नाम से प्रसिद्ध तीसरे "**प्रेतपितर**" है। इनकी मूल प्रतिष्ठा पृथिवीलोक है। ये ही कर्म्मपितर है। कर्म्मानुसार कर्मभोक्ता जीवात्मा को तत्तत् योनियो मे आना पडता है। शरीर से निकलने वाला महत् सोमावच्छिन्न यह पितर प्राण इससे ऊपर की ओर जाता है अतएव "प्र–**इत**" के अनुसार **प्रेत** शब्द से व्यवहृत किया जाता है। यह प्रेतपितर जब तक पार्थिव कक्षा के भीतर रहता है, तब तक तो इसकी स्थिति विपरीत
~~~~~~~~~~~~

रहती है। ऐसी दशा मे पार्थिव आकर्षण की प्रधानता से इसे दु ख होता है। इसी दु खावस्था को लक्ष्य मे रख कर इसे **अश्रुमुख** कहा जाता है। यही प्रेतपितर अन्तरिक्ष मे जा कर पार्थिव आकर्षण से विमुक्तप्राय होता हुआ, सम स्थिति मे परिणत होता हुआ, आन्तरिक्ष्य ऋतुपितरो से सश्लिष्ट होता हुआ तद्रूप मे परिणत हो कर "**पार्वण पितर**" नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। शुभ कर्म्म (इष्ट–आपूर्त्त–दत्त रूप विद्या निरपेक्ष प्रवृत्ति सत्कर्म्म) के बल से अन्तत द्युलोक मे जाता हुआ, वहाँ रहने वाले नान्दीमुख पितरो से युक्त होता हुआ तद्रूप बन कर यह प्रेतपितर भी **नान्दीमुख** नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। यहाँ का पार्थिव आकर्षण एक प्रकार से सर्वथा श्लथ हो जाता है। इस आकर्षण जनित दु ख से विमुक्त हो कर यह सुखी बन जाता है। इस प्रकार सास्कारिक कर्म्मबल के तारतम्य से एक ही प्रेतपितर लोकत्रय भेद से **प्रेत–पार्वण–नान्दीमुख** इन तीन स्वरूपो मे परिणत हो जाता है।

१—नान्दीमुखा ———→प्रेतपितर ———→दिव्यावस्थापन्ना

२—पार्वण ———→प्रेतपितर ———→आन्तरिक्ष्या

३—अश्रुमुखा ———→प्रेतपितर ———→पार्थिवा

उक्त कथन से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता हे कि **नान्दीमुख** एव **पार्वण** ये दोनो पितर तो

आधिकारिक, कार्म्मिक पितर— **आधिकारिक** एव **कार्म्मिक** भेद से दो-दो प्रकार के है एव **प्रेतपितर** केवल कर्म्मप्रधान है। प्रेतावस्था अवर अवस्था है, पार्वणावस्था मध्यमावस्था है, नान्दीमुखावस्था पर अवस्था है।

प्रकारान्तर से देखिए। तीन ही आधिकारिक पितर है एव तीन ही कार्म्मिक पितर। साथ ही मे **अग्नि–यम–सोम** भेद से प्रत्येक पितर की अवान्तर तीन-तीन अवस्थाएँ हो जाती है। द्युलोक मे भी **अग्नि–यम–सोम** ये तत्त्व प्रतिष्ठित है, अन्तरिक्ष भी अग्नि–यम–सोममय है। पृथिवी भी अग्नि–यम–सोम से शून्य नही है। द्युलोकस्थ अग्नि **सावित्र** है, दिव्य यम **शुचि** है, दिव्य सोम ब्रह्मणस्पति है। आन्तरिक्ष्य अग्नि **नाक्षत्रिक** (धिष्ण्य) है, आन्तरिक्ष्य यम **पावक** है एव आन्तरिक्ष्य सोम **गन्धर्व** नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिव अग्नि **गायत्र** है, पार्थिव यम **पावन** है एव पार्थिव सोम (चान्द्रसोम गर्भित) **दिक्सोम** नाम से प्रसिद्ध है। त्रिविध दिव्य नान्दीमुख पितरो की गति पृथिवी की ओर हुआ करती है। ऋतुपितराख्य आन्तरिक्ष्य त्रिविध पार्वण पितरो की गति (वायुप्रधान होने से) सदा तिर्य्यक होती है एव पार्थिव त्रिविध अश्रुमुख पितरो की गति द्युलोक की ओर हुआ करती है। पार्थिव गायत्राग्नि सदा ऊपर की ओर ही जाया करता है। भूकेन्द्र से निकल कर द्युमण्डल की ओर जाने वाला यही गायत्राग्नि सोमापहरण कर स्वस्वरूप की रक्षा करने मे समर्थ होता है। विशुद्ध रूप से गायत्राग्नि ऊपर की ओर जाता है एव सोममय वन कर वापस लौटता है। गमन भाव "**एति**" है, आगमन भाव "**प्रेति**" है। एति–प्रेति ही गायत्राग्नि का प्रधानकर्म्म है। गायत्राग्नि के इसी स्वरूप धर्म्म को लक्ष्य मे रख कर ब्राह्मण श्रुति कहती है—

❀"स वाऽएति च प्रेति चान्वाह । गायत्री मेवैतदर्वाचीं च पराचीं च युनक्ति । पराच्यह देवेभ्यो यज्ञं वहति, अर्वाची मनुष्यानवति" (शत० १।३।३) ।

गायत्री से सम्बन्ध रखने वाले इस **प्रेतिभाव** के कारण ही हम इस पार्थिव पितरप्राण को "**प्रेत**" शब्द से सम्बोधित कर सकते है । साथ ही मे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि गायत्र अग्नि का पार्थिव **उषा** के साथ सम्बन्ध है एव इसी उषा के समन्वय से पृथिवी पर आया हुआ प्रतिफलित सौर तेज **अश्व** कहलाता है । "उषा वै अश्वस्थ मेध्यस्थ शिर" इस औपनिषत् सिद्धान्त के अनुसार सौर अश्व का **मुखभाग** भूपृष्ठ से सलग्न उषा है, पृष्ठ भाग **द्यु**लोक रहता है । इधर अधोमुखमयी अश्वात्मिका उषा से **सम्बद्ध** गायत्राग्निमय पार्थिव पितरो का मुख भी तो भूपिण्ड की ओर रहता है, पृष्ठभाग द्युलोक की ओर रहता है । लोक भाषा के अनुसार पार्थिव पितरो का मस्तक नीचे है, पैर ऊपर है । यह महादु-खावस्था है । इसी स्वाभाविक स्थिति का अभिनय करने के लिए ही इन पार्थिव पितरो को "**अश्रुमुख**" कहा गया है ।

इस प्रकार तीन तीन भागो मे विभक्त उक्त तीनो पितर ही क्रमश **पर–मध्यम–अवर** नाम से प्रसिद्ध है । इन तीनो पितर सस्थाओ मे पितृप्राण की प्रतिष्ठा सोम तत्त्व ही है अत सामान्य रूप से पितरो के लिए "**पितर सौम्यास** " यह कहा जाता है । अपनी-अपनी लोकसस्था मे रच-रच पितर अपनी-अपनी सस्था की अग्निमय आग्नेय पितरो से स्थिति होती है । यममय याम्य पितरो का नाश भाव से सम्बन्ध है ।

अग्नि **अन्नाद** है, सोम **अन्न** है, यम **अनुभय** है अतएव ये तीनो पितर क्रमश **अन्नपितर–अन्नाद-पितर–अनुभयपितर** नाम से प्रसिद्ध है । अग्निपितर अन्नाद है, सोमपितर अन्न है, यमपितर अनुभय है । वह पितरप्राण जो सौम्य होने से आग्नेय पदार्थो का अन्न बनता है, **अन्न पितर** है । इसकी **अग्निष्वात्ता–सोमसत्–बर्हिषत्** ये तीन अवान्तर अवस्थाएँ है । वह पितरप्राण जो आग्नेय होता हुआ सोमात्मक अन्न खाया करता है, **अन्नाद पितर** है । इसकी हविर्भुक्–आज्यपा–सोमपा ये तीन अवान्तर अवस्थाएँ है । वह पितरप्राण जो न किसी का अन्न बनता है, न किसी को अन्न बनाता है, **अनुभय पितर** है । यही याम्य पितर है । इस प्रकार ३–अन्नपितर, ३–अन्नाद पितर, १–अनुभय पितर सभूय ७–दिव्यपितर हो जाते है । यही सात सख्या आन्तरिक्ष्य ऋतुरूप पार्वण पितरो की है यही सख्या पार्थिव अश्रुमुख पितरो की है । इन तीनो मे दिव्यपितर सोमप्रधान है, ऋतुपितर यमप्रधान है, अश्रुमुख पितर अग्नि प्रधान है । प्रत्येक की सात-सात अवस्थाएँ हो जाती है । इस प्रकार सभूय पितरप्राण की २१ अवान्तर अवस्थाएँ हो जाती है । यह है नित्य प्राकृतिक सृष्टि प्रवर्त्तक आधिकारिक पितरो का सक्षिप्त निदर्शन ।

❀वह ऋत्विक एति-प्रेति बोलता है । (इस एति-प्रेतिभाव से वह ऋत्विक्) गायत्री को ही पृथिवी की ओर एव द्युलोक की ओर मिलाता है । ऊपर की ओर जाती हुई गायत्री देवताओ के लिए यज्ञ वहन करती है एव नीचे की ओर आती हुई (दिव्य सोम की आहुति द्वारा) मनुष्यो की रक्षा करती है ।

१—नान्दीमुखाः—दिव्यपितरः सप्त "परासः"

१—१—१—अग्निष्वात्ता
२—२—२—सोमसद.
३—३—३—बर्हिषद.
}→अन्नपितर.—सौम्या (ब्रह्मणस्पति सोम)—परा

४—४—१—हविर्भुज
५—५—२—आज्यपा.
६—६—३—सोमपाः
}→अन्नादपितर—आग्नेया (सावित्राग्नि)—अवरा

७—७—१—सुकालिन]→अनुभय पितर—याम्या (शुचिर्यम)—मध्यमाः

} नान्दीमुखा—दिव्यपितरः परा १

—**—

२—ऋतुपितरः पार्वणाख्याः—आन्तरिक्ष्याः पितरः सप्त "मध्यमासः"

८—१—१—अग्निष्वात्ता.
९—२—२—सोमसद
१०—३—३—बर्हिषद.
}→अन्नपितर.—सौम्या (गन्धर्वश्चन्द्रसोम)—पराः

—❀—

११—४—१—सुकालिन]→अनुभयपितर—याम्याः (पावकोयम)—मध्यमा.

—❀—

१२—५—१—हविर्भुज.
१३—६—२—आज्यपाः
१४—७—३—सोमपा
}→अन्नाद पितर.—आग्नेया (नाक्षत्रिकोऽग्नि.)—अवरा

} पार्वणा ऋतु पितर.—आन्तरिक्ष्या मध्यमा—२

—**—

३—प्रेतपितरः—अश्रुमुखाः पार्थिवाः सप्त "अवरासः"

१५—१—१—अग्निष्वात्ता	→अन्नपितर —सौम्या (**दिक्**सोम)—परा	प्रेतपितरः—अश्रुमुखाः—पार्थिवाः **अवरा** —३
१६—२—२—सोमसद		
१७—३—३—बर्हिषद		
—**—		
१८—४—१—सुकालिन	→अनुभय पितर —याम्या (**पवमानो** यम.)–मध्यमा	
—**—		
१९—५—१—हविर्भुज	→अन्नादपितर —आग्नेया (गायत्राग्नि.)—अवरा	
२०—६—२—आज्यपा		
२१—७—३—सोमपा		

—❀—

स्तौम्य पितृस्वरूप परिचय— अग्नि–यम–सोम इन तीनो की हमने क्रमश स्तौम्य त्रिलोकी के तीनो लोको मे सत्ता बतलाई है, परन्तु इसमे एक विशेष व्यवस्था है। अग्नि पार्थिव तत्त्व है, यम आन्तरिक्ष्य तत्त्व है, सोम दिव्य तत्त्व है। सुतरा तीनो मे क्रमश अग्नि–सोम–यम इन तीनो तत्त्वो की सत्ता सिद्ध हो जाती है। पार्थिव अग्नि पृथिवी मे प्रधान बनता हुआ अपनी घन तरल विरल अवस्थाओ से सम्पूर्ण स्तौम्य त्रिलोकी मे व्याप्त हो रहा है। इन्ही तीनो अग्नियो को क्रमश **गायत्राग्नि–नाक्षत्रिकाग्नि–सावित्राग्नि** इन नामो से व्यवहृत किया जाता है। इसी प्रकार द्युलोक मे प्रतिष्ठित रहने वाला सोम भी घन–तरल–विरल अवस्था भेद से त्रैलोक्य मे व्याप्त हो रहा है। सोम की घनावस्था "अप्" है। इसका त्रिवृत् स्तोम (९) स्थानीय पार्थिव गायत्राग्नि से सम्बन्ध है। सोम की तरलावस्था "**साम्बसदाशिव**" नाम का वायुतत्त्व है। इसका पञ्चदशस्तोम (१५) स्थानीय आन्तरिक्ष्य नाक्षत्रिकाग्नि से सम्बन्ध है विरलावस्थापन्न अतएव प्राणात्मक सोम, सोम नाम से ही व्यवहृत हुआ है। इसका एकविशस्तोम (२१) स्थानीय दिव्य सावित्राग्नि से सम्बन्ध है। शेष रहता है आन्तरिक्ष्य यम। यह भी अवस्थात्रयी के कारण तीन स्वरूप धारण कर लेता है। पार्थिवघनावस्थापन्न यम–वायु **पवमान** है, इसका घन सोमावच्छिन्न पार्थिवघनाग्नि (गायत्राग्नि) के साथ सम्बन्ध है। आन्तरिक्ष्य तरलावस्थापन्न यम–वायु पावक है, इसका तरल सोमावच्छिन्न आन्तरिक्ष्य तरलाग्नि (नाक्षत्रिकाग्नि) के साथ सम्बन्ध है। द्युलोकस्थ विरलावस्थापन्न यम–वायु शुचि है, इसका विरलसोमावच्छिन्न दिव्य विरलाग्नि (सावित्राग्नि) के साथ सम्बन्ध है। इस प्रकार ९ अग्नि–यम–सोमो के निम्नलिखित रूप से तीन त्रिक् हो जाते है।

१←	१—दिव्याग्नि ——→सावित्राग्नि ——→	(विरलाग्नि—पार्थिव)
	२—दिव्ययम ——→शुचिर्यम ——→	(विरलवायु —आन्तरिक्ष्य)
	३—दिव्यसोम ——→प्राणात्मको विरलसोम ——→	(विरलसोम—दिव्य)

२←	१—आन्तरिक्ष्याग्नि ——→नाक्षत्रिकाग्नि ——→	(तरलाग्नि —पार्थिव)
	२—आन्तरिक्ष्य यम ——→पावकोयम ——→	(तरलवायु —आन्तरिक्ष्य.)
	३—आन्तरिक्ष्य सोम ——→सदाशिव. सोम ——→	(तरलसोम —दिव्य)

३←	१—पार्थिवाग्नि ——→गायत्राग्नि.——→	(घनाग्नि —पार्थिव)
	२—पार्थिवयम ——→पवमानोयम ——→	(घनवायु —आन्तरिक्ष्य)
	३—पार्थिवसोम ——→अब्सोम ——→	(घनसोम —दिव्य)



आयन्तु न पितर — सोम का स्वस्थान तृतीय द्यु लोक स्थानीय परमेष्ठी है। पृथिवी से उत्कृष्ट अन्तरिक्षलोक स्थानीय प्रथम द्यु लोक है। इससे उन्कृष्ट सूर्य्यलोक स्थानीय द्वितीय द्यु लोक है। एव सबसे प्रकृष्ट परमेष्ठि स्थानीय तृतीय द्यु लोक है, अतएव इसे "**प्रद्यौ**" कहा जाता है। सोम की प्रधानता के कारण, दूसरे शब्दो मे यहाँ सोम के पूर्ण रूप से विकसित रहने के कारण इस 'प्रद्यौ' को पितरो का प्रातिस्विक (अपना) लोक माना जाता है। जैसा कि "तृतीयाह प्रद्यौ यस्या पितर आसते" (यजुर्वेद) इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। पितरप्राण के स्वाभाविक विकास के कारण ही इन पारमेष्ठ्य सौम्य पितरो को हम **नान्दीमुख** कहने के लिए तय्यार है। अन्तरिक्ष लोक मे सोम का अभिभव हो जाता है। ऋतुरूप यम की प्रधानता हो जाती है। कारण स्पष्ट है। यम आन्तरिक्ष्य तत्त्व है। दूसरे शब्दो मे अन्तरिक्ष यम का प्रातिस्विक लोक है, अतएव इसमे यम की प्रधानता स्वतः सिद्ध है, अतएव इन आन्तरिक्ष्य यमगर्भित सौम्य पितरो को मध्यम श्रेणि के पितर मानना न्याय-सङ्गत होगा यही **ऋतुपितर** किवा **पार्वणपितर** है। पृथिवीलोक मे आकर सोम नितान्त मूर्च्छित हो जाता

है। गायत्राग्नि प्रधान बन जाता है। उधर यह गायत्राग्नि पूर्वकथनानुसार "**प्रेति**" भाव से युक्त है, अतएव तत् सम्बन्धावच्छिन्न पार्थिव पितर "**प्रेतपितर**" नाम से प्रसिद्ध होते है। सर्वत्र (तीनो लोको मे) सौम्यप्राण ही पितर है, परन्तु अग्नि–यम–सोम की प्रधानता से तीनो को क्रमश आग्नेय, याम्य, सौम्य नामो से व्यवहृत कर दिया जाता है। वस्तुत "आयन्तु न पितर सौम्यास" यह सिद्धान्त अक्षुण्ण है।

प्रजोत्पादक पितर—

पितर को हमने प्रजोत्पादक बतलाया है। दूसरे शब्दो मे प्रजा को उत्पन्न करने के कारण ही इस सौम्यप्राण की पितर सज्ञा रक्खी गई हे। उत्पत्ति मे इच्छा–तप–श्रम ये तीन अनुबन्ध नितान्त अपेक्षित है, जैसा कि "**अमृतात्म विज्ञानोपनिषत्**" मे विस्तार से बतलाया जा चुका है। बिना इन तीनो के समन्वय के सृष्टि कथमपि नही हो सकती। इनमे इच्छा का विकास ज्ञानमय मन से होता है, तप का विकास क्रियामय प्राण से होता है, एव श्रम की प्रवृत्ति अर्थमयी वाक् से होती है। ऐसी स्थिति मे प्रजासृष्टि के प्रवर्त्तक पितरप्राण के साथ भी इन तीनो अनुबन्धो का समन्वय होना आवश्यक हो जाता है। उपर्युक्त तीनो (पर-मध्यम-अवर) पितरो मे अग्नि–यम–सोम इन तीनो तत्त्वो के समन्वय से उक्त तीनो अनुबन्धो का भोग सिद्ध हो जाता है।

मनोमय ज्ञानमूर्ति अव्यय का सम्बन्ध **महत्** नाम के पारमेष्ठ्य "**वीध्र**" सोम के साथ होता है। अव्ययानुग्रह से महत् सोम ज्ञानमूर्ति बन जाता है। यही पहिली **ज्ञान–कला** है। इसी से **इच्छा** नाम के प्रथम अनुबन्ध का उदय होता है। क्रियाघन प्राणमूर्ति अक्षर का विकास आन्तरिक्ष्य यम नाम के वायु धरातल पर होता है। इस अक्षर के सम्बन्ध से यम–वायु क्रियामय बन जाता है। यही दूसरी **क्रियाकला** है। इसी से **तप** नाम के दूसरे सृष्ट्यनुबन्ध का उदय होता है, एव अर्थमूर्ति क्षर के अनुग्रह से पार्थिव अग्नि अर्थमय बन जाता है। दूसरे शब्दो मे अर्थघन वाङ्मूर्ति क्षर की विकास भूमि पार्थिव अग्नि ही है। यही तीसरी **अर्थकला** है। इसी से **श्रम** नाम के तीसरे सृष्ट्यनुबन्ध का उदय होता है। तीनो लोको मे (प्रत्येक मे) अग्नि–यम–सोम की सत्ता बतलाई गई है साथ ही मे पूर्व कथनानुसार तीनो क्रमश अर्थ–क्रिया–ज्ञानमूर्ति बनते हुए इच्छा–तप–श्रम के प्रवर्त्तक है। फलत इस त्रिविद्भाव के कारण तीनो लोको मे तीनो अनुबधो की सत्ता सिद्ध हो जाती है। हाँ, यह ध्यान अवश्य रखना पडेगा कि द्युलोक मे होने वाली सृष्टि **ज्ञानप्रधाना** है, क्योकि वहाँ ज्ञानमूर्ति सोम की ही प्रधानता है। ज्ञान ही आनन्द की विकास भूमि है। बिना ज्ञान के न आनन्द का उदय हो सकता है, न आनन्द का अनुभव, अतएव इन सोमप्रधान अर्थात् ज्ञानमूर्ति दिव्य पितरो को **नान्दीमुख** (आनन्दमुख–प्रसन्नमुख) कहना न्यायसगत होता है। अन्तरिक्ष मे होने वाली सृष्टि **क्रिया प्रधाना** है। कारण यहा क्रियामूर्ति यम–वायु की ही प्रधानता है। ऋतवायु ही ऋतभाव का प्रवर्त्तक है अतएव इन वायु-प्रधान अर्थात् क्रियामूर्त्ति आन्तरिक्ष्य पितरो को **ऋतुपितर** (पार्वणपितर) नाम से व्यवहृत करना न्यायसङ्गत होता है। पृथिवी मे होने वाली प्रजा-सृष्टि

अर्थप्रधाना (भूत प्रधाना) है, क्योकि यहाँ अर्थमूर्ति पार्थिव गायत्र अग्नि ही प्रधान है। इसका प्रेति भाव से सम्बन्ध बतलाया गया है। अतएव इन अग्निप्रधान अर्थात् अर्थमूर्ति पार्थिव पितरो को **प्रेतपितर** (अश्रुमुख पितर) नाम से व्यवहृत करना न्यायसङ्गत हो जाता है। त्र्यवयव (अग्नियमसोमावयव) पितरप्राण का **सोमाश** पदार्थो की उत्पत्ति का कारण है, **अग्न्यंश स्थितिभाव** का प्रवर्त्तक है एव **यमाश उत्सादन भाव** का अधिष्ठाता है।

त्रैगुण्य भावानुगत पितर—

घनावस्थापन्न अब्मूर्त्ति पार्थिवसोम दिक्सोम है, अतएव "**पृथिव्यन्तरिक्षद्यौर्दिश** " के साथ क्रमशः "अग्निवायुरादित्य —आप ' इस वाक्य का सम्बन्ध माना जाता है। इस अप्सोम के समन्वय से पार्थिव गायत्राग्नि द्वारा पृथिवी का स्वरूप निर्म्माण होता है। इसी आधार पर "**अद्भ्य पृथिवी**" (तै उपनिपत्) यह कहा जाता है। उपादान द्रव्य **अप्तत्त्व** है, यही **रेतः** (आहुति द्रव्य) है। **गायत्राग्नि योनि** है। पवमान वायु **रेतोधा** है। इन तीनो–रेतः–योनि–रेतोधा तत्त्वो के समन्वय से भूसृष्टि हुई है। आगे चलिए। आन्तरिक्ष्य गन्धर्वयुक्त (वायुरूप) **चन्द्रसोम रेत** है **ऋताग्नि** (नाक्षत्रिकाग्नि) **योनि** है, पावक नाम का यमवायु **रेतोधा** है। तीनो के समन्वय से **अन्तरिक्ष सस्था** का उदय हुआ है। दिव्यलोकस्थ **ब्रह्मणस्पति** नाम का सोम **रेत** है, **सत्य** सावित्राग्नि **योनि** है, **शुचि** नाम का वायु **रेतोधा** है। तीनो के समन्वय से **दिव्य संस्था** स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है।

सत्त्वगुण ज्ञानप्रधान है, **रजोगुण** क्रिया प्रधान है। तथा **तमोगुण** अर्थप्रधान है। इसी त्रैगुण्य भाव की नियत व्यवस्था के कारण ज्ञानप्रधाना दिव्यसृष्टि को "**सत्त्वविशाल सर्ग**" नाम से, क्रियाप्रधान आन्तरिक्ष्य सृष्टि को "**रजोविशाल सर्ग**" नाम से, एव अर्थप्रधान पार्थिवसृष्टि को "**तमो विशालसर्ग**" नाम से व्यवहृत किया जाता है। **प्राधानिक** (साख्य) शास्त्रसम्मत **चतुर्दशविधभूतसर्ग** का इन्ही तीनो सृष्टियो मे अन्तर्भाव है। इस भूतसर्ग के प्रवर्त्तक पूर्वप्रतिपादित **पर–मध्यम–अवर** पितर ही है।

"जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्यो एव देवताभ्य " इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार सब कुछ दृश्यमान प्रपञ्च **ऋषि–पितर–देवता–असुर–गन्धर्वादि**–प्राणदेवताओ के समन्वय–तारतम्य से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार पितर प्राणवत् इतर ऋषि–देवप्राणादि को भी उत्पादक माना जा सकता है, तथापि अग्नि सोममयी मैथुनी सृष्टि का प्रथम प्रवर्त्तक इन प्राण देवताओ मे मे केवल पितरप्राण ही हे, अतएव अङ्गिरागर्भित भार्गव सौम्यप्राण को ही पितर शब्द से सम्बोधित किया जाता है। इस प्रकार पितरप्राण का सृष्टिप्रवर्त्तकत्व भली भाँति सिद्ध हो जाता है। उक्त तीनो ही पितर आधिकारिक पितर है। इन आधिकारिक पितरो के आधार पर तीन प्रकार के ही कार्म्मिक पितरो का स्वरूप सम्पन्न होता है जैसा कि **आगे** जा कर स्पष्ट हो जायगा।

३—सोमप्रमुखाः पितरः ← { १—**सोम.** विशुद्ध सोम —विरल भावापन्न प्राणमूर्त्तिर्ज्ञानमयो दिव्यः→"**ब्रह्मणस्पति**"
२—यम'—विरल भावापन्न'—प्राणमूर्त्ति क्रियामयो दिव्यो वायु.→"**शुचि.**"
३—अग्नि विरल भावापन्न —**प्राणमूर्त्तिरर्थ**मयो दिव्योऽग्नि'——→"**सावित्र**" } **सत्वविशालसर्ग-प्रवर्त्तका →नान्दीमुखा परा.—पितर.**

—✱✱—

२—वायुप्रमुखा पितर ← { १—**यम** —विशुद्ध वायु —तरल भावापन्न क्रियामूर्त्तिरान्तरिक्ष्यो वायु →"**पावक**"
२—**सोम** —तरल भावापन्नो वायुमूर्त्तिर्ज्ञानमयो—आन्तरिक्ष्य सोम.→"**गन्धर्व**"
३—अग्नि —तरल भावापन्नो **वायुमूर्त्तिरर्थमयः**—आन्तरिक्ष्य. अग्नि →"**नाक्षत्रिक**" } **रजोविशालसर्ग-प्रवर्त्तकाः →पार्वणा. मध्यमा**

—✿—

३—अग्निमुखा' पितर ← { १—अग्नि —विशुद्ध अग्नि —घनभावापन्नोऽर्थमूर्त्तिः पार्थिवोऽग्नि →"**नाक्षत्रिक**"
२—यम —घन भावापन्न.—अर्थमूर्त्ति पार्थिवो वायु ——————→"**पवमान**"
३—सोम —घन भावापन्न —**अर्थमूर्त्तिः** पार्थिव. सोम ——————→"**दिश्य**" } **तमोविशालसर्ग-प्रवर्त्तका →अश्रुमुखा अवराः**

होते हुए क्रमश **अग्निष्वात्त–सोमसद्–बर्हिषद्** इन नामों से प्रसिद्ध हो जाते है। इस प्रकार दिव्य-पितर सात के स्थान मे सोमापेक्षया तीन ही रह जाते है। इन तीनो मे भी अग्निष्वात्ता पितरो मे अग्नि की प्रधानता, बर्हिषदा पितरो मे यम की प्रधानता, एव सोमसद् पितरो मे सोम की प्रधानता है, परन्तु साथ ही मे इस क्रम धारा के होते हुए भी पाठको का यह नही भूलना चाहिए कि उक्त तीनो पितरो का मूलाधार सोम तत्त्व ही है। सोमसद् पितरो मे आहुत होने वाला पदार्थ एव जिसमे इसकी आहुति होती है, वह पदार्थ दोनो ही सोमप्रधान है अतएव अग्निष्वात्ता बर्हिषद् पितरो की अपेक्षा सोमसद् पितरो मे आहुत होने वाला पदार्थ एव जिसमे इसकी आहुति होती है, वह पदार्थ दोनो ही सोमप्रधान है अतएव अग्निष्वात्ता बर्हिषद् पितरो की अपेक्षा सोमसद् पितरो मे सोम्यप्राण का पूर्ण विकास माना गया है, यही कारण है कि सोमसद् पितर (स्वमण्डली मे) **राजा** पदवी से अलङ्कृत माने गए है। इन्ही सोमसद् पितृप्रमुख सौम्य पितरो के लिए तत्तत् श्रौत स्मार्त्त पौराणिक स्थलो मे **सोमपदः–सोमवन्त –सोम्या –सोम्यास –सुभास्वराः** इत्यादि शब्द प्रयुक्त हुए है। इन सब शब्दो मे अर्थ सम्बन्ध मे प्राय अभिन्नता ही समझनी चाहिए।

उपर्युक्त तीनो अन्नपितरो मे से सोमसद् पितर **साध्य देवताओ** के प्रवर्तक बनते हुए "साध्याना पितर" (साध्यो के पितर) कहलाते है। ये साध्य पारमेष्ठ्य आप्य देवता है। देवघन सूर्य्य से ऊपर आपोमय परमेष्ठी मे इन आपोमय सोम्य साध्य देवताओ का विकास होता है। आप्यप्राणप्रधान होने से ये पारमेष्ठ्य साध्य देवता ज्योतिर्घन इन्द्रप्रधान सौर देवताओ के विरोधी है। पारमेष्ठ्य होने से साध्य देवता "पूर्वदेवा" नाम से प्रसिद्ध है, कारण सूर्य्य से पहिले परमेष्ठी का विकास हुआ है। परमेष्ठी के देवता विष्णु है। विष्णुप्रधान परमेष्ठीलोक ही "अपुनर्मार"–"अणोकामहिम"—नाक इत्यादि नामो से प्रसिद्ध है। विष्णु यज्ञमूर्त्ति है। इसी यज्ञ से आपोमय साध्य देवता पारमेष्ठ्य यज्ञ के प्रवर्त्तक बनते है। साध्य देवताओ के इसी वैज्ञानिक स्वरूप को लक्ष्य मे रख कर ऋषि कहते है

"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ।।"

(यजु० स० ३१।१६)

आप्यप्राणप्रधान होने से ही इन साध्य देवो के लिए अमरसिंह ने 'पूर्वदेवा -सुरद्विष' (अमरकोश १।१२) यह कहा है। यम प्रधान बर्हिषद् नाम के दूसरे सोम्य पितर देवयोनि रूप **देव–दानव–यक्ष–गन्धर्व–किन्नर–पिशाच–गुह्यक–सिद्ध–नाग–सुपर्ण–राक्षस** आदि वायव्य प्राण देवताओ के उत्पादक है एव अग्नि प्रधान **अग्निष्वात्ता** नाम के तीसरे सौम्य पितर प्रधानरूप मे मरुतादि प्राण देवताओ के पितर माने गए है।

उक्त तीनो पितरो का प्रतिष्ठास्थान **सनातन, वैभ्राज्य,** सोमपथ नामो से प्रसिद्ध है। **सोमसद् पितरो** का लोक सनातन है, इसी को कही-कही **सतानक** नाम से भी व्यवहृत किया गया है। **बर्हिषद् पितरों** का लोक **सोमपथ** है, यही **सोमपद** नाम से भी प्रसिद्ध है एव अग्निष्वात्ता पितरो का लोक **वैभ्राज** है। यही लोक कही-कही **विभ्राजमान** नाम से भी व्यवहृत हुआ है।

सोमसद् नाम के साध्यपितर (साध्यों के पितर) वैराज नाम से प्रसिद्ध है। इनकी अवान्तर विभूति गणना अनुपलब्ध है।बर्हिषद् नाम के देवयोनिपितर **मारीच** नाम से प्रसिद्ध है। इनकी विभूति संख्या ८६००० (छियासी हजार) है। अग्निष्वात्ता नाम के देवपितर **पौलस्त्य** नाम से प्रसिद्ध है। इनकी संख्या ६४००० (चौसठ हजार) सुनी जाती है।

उपर्युक्त तीनो पितरो के अग्नि–यम–सोम ये तीनो सहयोगी देवता कहलाते है। **अत्रि–अङ्गिरा–भृगु** (१ २ ३) इन तीन ऋषिप्राणो के साथ कमश जब **सोम–अग्नि–यम** (१ २ ३) का सम्बन्ध होता है तभी उक्त तीनो पितरो की स्वरूप निष्पत्ति होती है। सोमतत्त्व का अत्रि के साथ समन्वय होने से सोमसद् पितर का स्वरूप निष्पन्न होता है। सोम अत्रि ऋषि के पुत्र माने गए है। अत्रि चन्द्रपिता (सोमपिता) नाम से प्रसिद्ध है "पिता सोमस्य वै विप्रा जज्ञेऽत्रिर्भगवानृषि ।" इन पितरो मे अत्रि–सोम की प्रधानता के तारतम्य से स्वरूप–भेद हो जाता है। यदि अत्रि का भाग प्रधान रहता है तो **"सोमवद्भ्य पितृभ्य स्वधा"** बोलते हुए आहुति दी जाती है। अत्रि एव सोम दोनो समान सममात्रा मे रहते है तो—**"सोमाय पितृमते स्वधा"** यह प्रयोग होता है। यदि सोम की प्रधानता रहती है तो **"सोमाय पितृपीताय स्वधा"** यह वाक्य प्रयुक्त होता है।

यम देवता का अङ्गिरा ऋषि के साथ सम्बन्ध माना गया है। अङ्गिरा की प्रधानता मे यह यम अङ्गिरा नाम से व्यवहृत होता है अङ्गिरा एव यम दोनो की समानता मे वही यम **अङ्गिरस्वान्** कहलाने लगता है। यदि दोनो मे से यम की प्रधानता हो जाती है तो वही यम **"अङ्गिरसापति"** इस वाक्य से व्यवहृत होने लगता है।

तीसरे भृगुप्राण के साथ अग्नि का समन्वय माना गया है। यही भृगुप्राण **कवि** नाम से प्रसिद्ध है। इसी का प्रत्यश **कव्य** कहलाता है एतद्युक्त यह अग्नि "**कव्यं वहति**" इन निर्वचन के अनुसार **कव्यवाद्** नाम से ही व्यवहृत होगा। इस प्रकार **"यमोऽङ्गिरा"–"यमोङ्गिरस्वान्"–"सोमपितृपीत"** तीनो देवता अभिन्नार्थक है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण मे अग्नि और सोम का अङ्गिरा ऋषि के साथ सम्बन्ध बतलाया गया है। आगे जा कर कहा गया है कि इन तीनो मे से अग्नि एव सोम के लिए **स्वधाकार** करना चाहिए (आहुति देनी चाहिए) एव तद्गत अङ्गिरा ऋषि के लिए केवल नमस्कार करना चाहिए। परन्तु वस्तु स्थिति के देखने से पुराण का उक्त मत सङ्गत प्रतीत नही होता। तीनो एक रूप मे ही परिणत रहते है, ऐसी अवस्था मे तदर्थकृत स्वधा-नमस्कार दोनो कर्म्मो का तीनो के ही साथ सम्बन्ध मानना न्यायसङ्गत प्रतीत होता है। यही कारण है कि ब्रह्मपुराण को छोड कर अन्यत्र कही भी पूर्वोक्त मत का उल्लेख नही मिलता। जैसा कि पूर्व मे कई बार बतलाया जा चुका है कि तीनो पितरो के साथ क्रमश अग्नि–यम–सोम देवताओ का सम्बन्ध होता है। यही कारण है कि **"पितृश्राद्ध"** नाम से प्रसिद्ध श्रौत **पिण्डपितृ यज्ञ** मे **हवि** द्वारा पहिले इन अग्नि-यमादि पितर देवताओ (पितरो के देवताओ) को आप्यायित किया जाता है, अनन्तर तद्रक्षित

अग्निष्वात्तादि पितरो को **स्वधा** द्रव्य से **तृप्त** किया जाता है। **"सोमायपितृमते"** इस वाक्य से सोम-ज्येष्ठ, अतएव सोममय सोमसदा पितरो को तृप्त किया जाता है। **"यमायाङ्गिरस्वते"** इस वाक्य से यमज्येष्ठ, अतएव **बर्हिषद्** पितरो को तृप्त किया जाता है एव **"अग्नये काव्यवाहनाय"** इस वाक्य से अग्निज्येष्ठ, अतएव अग्निमय **अग्निष्वात्ता** पितरो को तृप्त किया जाता है। इस देवक्रम से **श्राद्ध देवता** नाम से प्रसिद्ध अग्निप्रमुख वसु, यमप्रमुख रुद्र, सोमप्रमुख **आदित्य** नाम के गण देवता भी तृप्त हो जाते है।

पूर्व प्रकरण से यद्यपि **आग्नेय** (अग्निष्वात्ता), **सौम्य** (सोमसद्), **याम्य** (बर्हिषद्) इस क्रम से पितरो के तीन भेद सिद्ध होते है, परन्तु **'तन्मध्यपतित'** न्याय से मध्यस्थ यमपितर का दोनो मे ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है। ऐसी परिस्थिति मे पितृप्रकरण के सम्बन्ध मे अग्नि–सोम की ही प्रधानता रह जाती है। इस स्थिति को प्रधान मानने से निम्नलिखित पितृविषयक सारे विसवादो का समन्वय हो जाता है।

वायु पुराण के अनुसार अग्नि ही प्रधान पितर है। अन्यत्र अप् (सोम) तत्त्व को ही पितर माना गया है। **"तपोमय त्रैलोक्य मे सर्वप्रथम प्रजापति ने अप् तत्त्व उत्पन्न किया। वे पानी ही स्वयंभू ब्रह्मा के पुत्र, एवं उत्तर मे होने वाले देवतादि के पितर कहलाए"** यही वहाँ निर्दिष्ट है। स्वयभू ब्रह्मा वाङ्मय है। यही वाङ्भाग **"सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्"** (शत ६।१।१।६) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार परमेष्ठी रूप मे परिणत होता है। यही अप्तत्त्व (किवाभृगु तत्त्व) पितर है। वाक् इसकी मूल जननी है। इसी आधार पर **"पितरोवाक्यमिच्छति"** यह कहा गया है।

"विष्णु भगवान वराह रूप धारण कर आपोमय समुद्र मे से डूबते हुए भूपिण्ड को अपनी दंष्ट्रा पर उठाकर उसका उद्धार करते है। यह मृतपिण्ड पितर नाम से प्रसिद्ध है" इत्यादि रूप से महाभारत ने भूपिण्ड को पितर माना है। कारण स्पष्ट है। दिक्सोम एव गायत्रअग्नि की समुच्चितावस्था ही भूपिण्ड है, एव अग्नि–सोम ही पितर की प्रतिष्ठा है। **"प्रजापति के शरीर से रूप–रस–गन्ध-स्पर्श–शब्द नाम की पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न हुई। वे ही आकाश मे इतस्तत विचरती हुई पितर नाम से प्रसिद्ध हुई।"** यह वराह पुराण का सिद्धान्त है। उक्त पञ्चतन्मात्राएँ सर्वप्रथम **सररवान्** नाम के पारमेष्ठ्य समुद्र मे ही प्रादुर्भूत होती है। **प्राण–आप–वाक्–अन्न–अन्नादरूपक्षर** प्रजापति का शरीर है। इसी से **गुणभूत** नाम से प्रसिद्ध रूपरसादि पञ्चतन्मात्राएँ उत्पन्न हुई है। परमेष्ठी के सम्बन्ध मे (सोममय होने से) इन्हे भी पितर शब्द से सम्बोधित किया जा सकता है।

उपर्युक्त अवान्तर सर्वविध पितरो का अन्ततोगत्वा अग्नि–सोम मे ही पर्य्यवसान हो जाता है। उपर्य्युक्त तीनो पितरो को हमने विरलावस्थापन्न बतलाया है। विरलता प्राण का धर्म्म है। प्राण अमूर्त्त तत्त्व है अतएव इन पितरो को हम अवश्य ही **"अमूर्त्त"** शब्द से व्यवहृत कर सकते है। विधर्त्ता प्राणात्मक यही पितर त्रैलोक्य को धारण करते है। अतएव इन तीनो नान्दीमुखपितरो को **"धर्म्ममूर्त्ति"** भी माना जाता है। इनका नान्दीमुखत्व प्रकरण के आरम्भ मे ही बतलाया जा चुका है।

नान्दीमुखा दिव्या परा पितरस्त्रय

१—सोमसद ——→सोमेनेजानानाम्——————→सनातन लोका परा पितर.

२—बर्हिषद.——→पक्वेनदत्तेनलोकजयिनाम्————→सोमपथलोका मध्यमा पितर.

३—अग्निष्वाता ——→अयाजिनामग्निदग्धानाम्———→वैभाजलोका अवरा पितर

—**—

	दिश	देवा	ऋषय	पितर	लोका	जनका	जन्या	सख्याता
१	उत्तरा	सोम	अत्रि	सोमसद	सनातना	साध्यानाम्	वैराजा	. .
२	अन्तरा	यम	अङ्गिरा	बर्हिषद	सोमपथा	देवयोनीनाम्	मारीचा	८६०००
३	दक्षिणा	अग्नि	भृगु	अग्निष्वात्ता	वैभ्राजा	देवानाम्	पौलस्त्या	६४०००

त इमे नान्दीमुखाः, धर्म्ममूर्त्तयः, अमूर्त्तास्त्रयः सप्त वा दिव्यपितरः संक्षेपेण व्याख्याता द्रष्टव्याः

२—पार्वणाः—नित्याः—अधिकारिकाः—आन्तरिक्ष्याः—

ऋतुपितर विज्ञानोपनिषत् मे दिव्यपितरो की तरह पार्वण पितरो को भी अग्निष्वात्ता सोमसदादि अवान्तर सात अवस्थाएँ बतलाई गई है। वस्तुत इनके तीन ही मुख्य

पार्वण पितृस्वरूप मीमासा—

भेद समझने चाहिए। कही कही **सुकाली** पितर के समन्वय से ये चार प्रकार के हो जाते है। ये चारो पितर ऋतुपर्वो से सम्बन्ध रखने के कारण **पार्वण** पितर नाम से प्रसिद्ध है। **हविर्भुक्–आज्यपा–सोमपा–सुकाली** ये ही पार्वण पितर है। **हविर्भुक्** पितरो का **ग्रीष्मऋतु** के साथ सम्बन्ध है। आज्यपा पितरो का **वर्षाऋतु** से सम्बन्ध है। **सोमपा** पितरो का **शीतर्त्तु** के साथ सम्बन्ध है। नान्दीमुख पितरो की तरह इन तीनो पितरो के अनुग्राहक भी **अग्नि–यम--सोम** ही है। ये पितर अन्तरिक्षलोक को अपनी मूल प्रतिष्ठा बनाते हुए तिर्य्यङ्मुख रहते है।

ये घनभाव के मूर्त्तिमान माने जाते हे । इनके शरीर होता है। ये ही देवयोनिविशेष हे। इनके पैर नही होते है। ये चन्द्रमा के प्रकाश मे ही रह सकते है। सौर प्रकाश मे ये दग्ध हो जाते है। इन तीनो मे से **सोमपा** नाम के सौम्यपितर "**सोमवन्त**" "**सौम्य**" "**काव्या**" "**काव्यदा**" इत्यादि विविध नामो से प्रसिद्ध है। यह ध्यान रखना चाहिए कि दिव्य सात पितरो मे भी सोमपा नाम के पितर है एव इन आन्तरिक्ष्य पार्वण पितरो मे भी सोमपा पितर है। एक **वैराज** है, दूसरे **काव्य** है। इनमे वैराज सोमपा पितर नान्दीमुख है, एव ये आन्तरिक्ष्य सोमपा पितर काव्य है। इन आन्तरिक्ष्य सोमपा पितरो का अवस्थान स्थान आन्तरिक्ष्य वायव्य विद्युत्-तेज के सम्बन्ध से "**ज्योतिर्भासा**" नाम से प्रसिद्ध हे। लोक सज्ञा के आधार पर ही इन्हे यत्र--तत्र प्रकरणो मे "**ज्योतिर्भासा**" नाम से भी व्यवहृत किया जाता है।

दूसरे है **हविर्भुक्** नाम के आन्तरिक्ष्य पितर। इनका ग्रीष्मऋतु पर्व से सम्बन्ध है। "**हविर्भुज**" "**हविष्मन्त**" दोनो शब्द अभिन्नार्थक हे। हवि--ग्रहणार्थ इनका आह्वान किया जाता हे, अतएव इन्हे "**उपहूता**" भी कहा जाता है। **अङ्गिराप्राण** इनका प्रभव है। इनके लोक आन्तरिक्ष्य **मरीचि** पानी के सम्बन्ध से "**मारीचा**" नाम से प्रसिद्ध है। इन्ही लोको को मरीचि नाम की सौर आन्तरिक्ष्य रश्मियो के गर्भ मे रहने के कारण "मरीचिगर्भा" नाम से व्यवहृत किया जाता हे।

तीसरे अन्तरिक्ष्य ऋतुपितर "**आज्यपा**" नाम से प्रसिद्ध है। ये ही **सुस्वधा** नाम से भी व्यवहृत किए जाते है। पुलस्त्यप्राण इनका आरम्भक है, अतएव इन्हे "पौलस्त्य" कहा जाता हे। कितने ही आचार्यो के मतानुसार इनका उपादान कारण पुलस्त्यप्राण से प्रादुर्भूत होने वाला **कर्द्दमप्राण** हे। इस मत की अपेक्षा से **कार्द्दम** शब्द से भी व्यवहृत किया जाता है। "**तैजो वै घृतम्**" (तै०स० २।२९।६) "घृतमन्तरिक्षस्य" (शत० ७।५।१।३) इत्यादि श्रौतवचनो के अनुसार ये अन्तरिक्ष्य ऋतुपितर तेजोमूर्त्ति घृतमय अन्तरिक्ष के सम्बन्ध से "**तेजस्विनः**" नाम से प्रसिद्ध है।

चौथे है **सुकाली** पितर इन्हे कही कही **सुकाला** नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। इनका आरम्भक **वसिष्ठप्राण** है, अतएव इन्हे "**वासिष्ठ**" कहा जाता है। मनोमय प्रजापति के इनके लोक '**मानस**' नाम से **प्रसिद्ध** है।

उपर्युक्त आन्तरिक्ष्य चारो पार्वण पितर क्रमश **ब्रह्म क्षत्र विट् पौष्ण** वीर्यो के प्रवर्त्तक है। स्थावर जङ्गमात्मक विश्व प्रपञ्च मे **अग्निप्रधान** आग्नेय पदार्थ **ब्राह्मण** हे। **इन्द्र प्रधान ऐन्द्र** पदार्थ **क्षत्रिय** है। **विश्वेदेव प्रधान वैश्वदेव** पदार्थ **वैश्य** है। **पूषा** देवताप्रधान **पौष्ण** पदार्थ **शूद्र** हे। **अग्नि इन्द्र मरुत् पूषा** के समन्वय से उक्त चारो पितर चारो वर्णो के प्रवर्त्तक बनते हैं। अग्नि से युक्त **सोमपितर** ब्राह्मणवर्ग के, इन्द्र से युक्त **हविभुक्** पितर क्षत्रियवर्ग के मरुत् (विश्वेदेव) से युक्त **आज्यपापितर** वैश्यवर्ग के तथा पूषाप्राण से युक्त **सुकालीपितर** शूद्रवर्ग के अधिष्ठाता है।

प्रत्येक पदार्थ मे भी उक्त चारो वर्णो का भाग होता है। कारण यही है कि प्रत्येक के उपादान ये चारो बनते है, अतएव "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहूराजन्य" (ऋक्० १०।९०।१२) के अनुसार प्रत्येक

ॐ पुरुष के साथ चारों वर्णों का सम्बन्ध माना गया है। यह सब कुछ होने पर भी **वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वाद** " इस न्याय के अनुसार जिस पदार्थ मे जो पितर प्रधान होता है वह उसी वर्ण के नाम से व्यवहृत होता है। इसी आधार पर पशुओं मे **अज** (बकरा) ब्राह्मण कहलाता है, **मेष** (मेढा) क्षत्रिय कहलाता है **गौ** वैश्य कहलाता है एव **अश्व** शूद्र कहलाता है। इस प्रकार तत्तद्देवता ♀प्राणभेद से ये पितर देवता पदार्थ मात्र के उपादान बन जाते है।

सोमग्राही पितर **सोमपा** कहलाते है, **हवि** ग्रहण करने वाले पितर हविर्भुक् कहलाते है, **आज्य** ग्रहण करने वाले पितर "**आज्यपा**" नाम से प्रसिद्ध है। आज्य एव सोम दोनो तरल द्रव्य है। इनका पान ही सम्भव है, अतएव तत्पानकर्त्ता दोनो पितर क्रमश आज्यपा–सोमपा नाम से व्यवहृत हुए है। हविपदार्थ घन द्रव्य है। इसमे भोजन व्यवहार लोकसिद्ध है, अतएव तद्भोक्ता पितर हविर्भुक् नाम से सम्बोधित किए गए है।

जो द्रव-द्रव्य अग्नि-सयोग से जल उठते है, दूसरे शब्दो मे जो तरल पदार्थ अग्नि सम्बन्ध से ज्वालारूप मे परिणत हो जाते है, वे सब पदार्थ (घृत–तैल–मदिरा आदि) परिभाषानुसार "**आज्य**" नाम से प्रसिद्ध है। ऐसे द्रव–द्रव्य जो कि (आप्यप्राण प्रधान वरुण के कारण) अग्नि के सयोग से ज्वाला रूप मे परिणत नही होते, वे सब पदार्थ (दुग्ध आदि) सोम (आप्यसोम किवा वरुण सोम) नाम से व्यवहृत हुए है। कहना यही है कि सोम द्रव्य से आप्यायित होने वाले पितर **सोमपा**, आज्य द्रव्य से आप्यायित होने वाले पितर **आज्यपा** एव हविर्द्रव्य से तृप्त होने वाले पितर **हविर्भुक्** नाम से प्रसिद्ध है, परन्तु जो पितर किसी भी द्रव्य का **स्वधा** सम्बन्ध से ग्रहण नही करते अपितु केवल **स्वाहा** सम्बन्ध से पदार्थो के साथ बहिर्याम रूप से सम्बन्ध कर विमुक्त हो जाते है, वे पितर "**सुकाली**" नाम से प्रसिद्ध है। अग्नि–यम–सोमात्मक वसु–रुद्र-आदित्य ही उक्त पितरो के अभिमानी देवता है जैसा कि प्रकरण के आरम्भ मे ही बतलाया जा चुका है। ऋतुपितर के आन्तरिक्ष्य पार्वणपितरो का यही सक्षिप्त स्वरूप निदर्शन है।

	दिश	देवा	ऋषय	पितर	लोका	जनका	जन्या	विभूतय
१	उत्तरा	अग्नि	कवि	सोमपा	ज्योतिर्भासा	आग्नेयानाम्	ब्राह्मणानाम्	काव्या
२	मध्यमा	मरुत	पुलस्त्य	आज्यपा	मारीचा	वैश्वदेवानाम्	वैश्यानाम्	पौलस्त्या
३	दक्षिणा	इन्द्र	अङ्गिरा	हविर्भुज	तेजस्विन	ऐन्द्राणाम्	क्षत्रियाणाम्	पौलहा
४	सर्वा	पूषा	वसिष्ठ	सुकालिन	मानसा	पौष्णानाम्	शूद्राणान्	वसिष्ठा

त इमे पार्वणाः, वर्ण प्रवर्त्तकाः, अमूर्त्ताः चत्वारः सप्त वा ऋतुपितरः पार्वणाख्याः–आन्तरिक्ष्याः संक्षेपेण निरूपिता द्रष्टव्या :

ॐ"**पुरुष एवेदं सर्व यद्भूतयच्च भाव्यम्**" (ऋक्० १०।९०।२) के अनुसार मायापुर से वेष्टित प्रत्येक पदार्थ पुरुष शब्द से व्यवहृत हुआ है।

♀इस प्राकृतिक वर्ण व्यवस्था का विशद वैज्ञानिक विवेचन "**वेदेषु धर्म्मभेद**" नाम के सस्कृत निबन्ध मे देखना चाहिए। यह निबन्ध प्रकाशित हो गया है।

—३ प्रेतपितरः–पार्थिवाः–अश्रुमुखाः—

तीसरे है **अश्रुमुख** नामक पार्थिव **प्रेतपितर**। ये प्रेतपितर गायत्रप्राणगर्भित पूषाप्राणप्रधान है। प्रधानत. **सुकाली** ही पार्थिव पितर है, परन्तु अग्नि–यम–सोम के सम्बन्ध से यहाँ भी सात पितर हो जाते है, जैसा कि पूर्व मे बतलाया जा चुका है। इस प्रकार तत्तत् अधिकारो मे नियत, अतएव अधिकारिक नाम से प्रसिद्ध पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ भेद से त्रैधाविभक्त **प्रेत–ऋतु–दिव्य** पितर त्रैलोक्य मे व्याप्त है।

अश्रुमुख पितर स्वरूप मीमांसा—

"जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्यो एव देवताभ्यः" इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पन्न होने वाली पार्थिव प्रजा मे त्रैलोक्य के पितर देवता उपादान रूप से प्रविष्ट होते है, परन्तु इन पार्थिव प्रजाओ मे पृथिवीप्राण की प्रधानता है अत. इनमे पार्थिव प्रेत पितर ही प्रधान रहते है।

शरीर अवसान के अनन्तर यह आध्यात्मिक प्रेत पितर तत्तत् कर्म्म विशेषो से तत्तत् प्राकृतिक पितरो के साथ युक्त होते हुए तत्तत् प्राकृतिक पितरो के नाम से व्यवहृत होने लगते है। शरीर से निकले बाद ये प्रेत पितर कुछ काल तक त्रिवृत्स्तोमोपलक्षित पार्थिव मण्डल मे परिभ्रमण करते है। यहाँ इनमे पार्थिव आकर्षण की प्रधानता रहती है, अतएव यहाँ इस स्थिति मे ये दुखी रहते हुए **"अश्रुमुख"** नाम से प्रसिद्ध होते है। यही प्रेतपितरो की पहली अवस्था है आगे अन्तरिक्ष मे जा कर तद्गत नित्य अधिकारिक पार्वण पितरो से युक्त होते हुए, तद्भावापन्न होते हुए ये भी **पार्वणपितर** नाम मे ही प्रसिद्ध हो जाते है। यही शारीर पितर दिव्यलोक मे जाकर, तद्गत नित्य आधिकारिक दिव्य पितरो के साथ सहयोग करते हुए, तद्भावापन्न होते हुए **"नान्दीमुख"** नाम से प्रसिद्ध हो जाते है। इस प्रकार अधिकारिक नित्य पितरो के सयोग से इन कार्म्मिक, अनित्य शारीर (आध्यात्मिक) पितरो की भी तीन अवस्थाएँ हो जाती है। इसी अभिप्राय को प्रकट करता हुआ वायु पुराण कहता है—

प्रेत पितृस्वरूप परिचय—

> **"ब्रह्मचर्य्येण तपसा यज्ञेन प्रजया तथा।**
> **श्रद्धया प्रज्ञया चैव प्रदानेन च सप्तधा ॥१॥**
> **कर्म्मस्वेतेषु ये युक्ता भवन्त्यादेहपातनात्।**
> **देवैस्तैः पितृभिः सार्द्धं मोदन्ते सोमपाज्यपैः" ॥२॥ इति**

"ये वै केचन अस्माल्लोकात् प्रयन्ति, चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार पृथिवी लोकस्थ भूतात्मा भौतिकशरीरत्यागानन्तर गन्धर्वशरीर (वायुमय शरीर) धारण करके १३ नाक्षत्रिक महीनो की अवधि मे चन्द्रलोक मे पहुँचते है। ये ही **प्रेतपितर** है। आरम्भ की **सुकाली**(१)–**हविर्भुक्**(२)–**आज्यपा**(३)–**सोमपा**(४) ये चार अवस्थाएँ स्थूल है, मूर्त्त

प्रकरणोपसंहार—

है। इन्ही के लिए "**लेपभाजश्चतुर्थाद्या**" यह कहा जाता है। सोमसद्–बर्हिषद्–अग्निष्वात्ता भेदभिन्न तीन नान्दीमुख पितर अमूर्त्त होने से लेपभाक् है। इस अवस्था मे इनके प्रेतभाव की निवृत्ति है।

उपर्युक्त अवस्थाएँ **सद्गति** से सम्बन्ध रखती है। ठीक इसके विपरीत **कुकर्म्मा** (कुसकारी) प्रेतात्मा (प्रेतपितर) **दुर्गति** भाव से युक्त होते हुए, चान्द्र सस्था से वञ्चित होते हुए कुत्सित योनि विशेषो मे नाना रूप धारण करते हुए इतस्तत घूमा करते है। आगे जा कर पॉच तिर्य्यग् योनियो मे आते हुए ये ही अन्ततोगत्वा **धातुजीव** नाम से प्रसिद्ध स्थावर योनियो के बन्धन से सदा के लिए बद्ध हो जाते है। ये ही त्रिविध प्रेत-पितर "**कर्म्मपितर**" नाम से प्रसिद्ध है। **श्रौतकर्म्म** (पिण्डपितृयज्ञादि) मे नित्य आधिकारिक **पितरो** की प्रधानता है, एव इन कर्म्म पितरो का प्रधान सम्बन्ध **स्मार्तकर्म्म** से है। इन्ही के लिए **पिण्ड दान–अञ्जलिदानादि** लक्षण **श्राद्धकर्म्म** का विधान है। श्रौतपितृकर्म्म "**प्रेतकर्म्म**" किंवा **अशुभलक्षण कर्म्म**" है। श्राद्ध सम्बन्धी इन्ही त्रिविध प्रेतपितरो का दिग्दर्शन कराता हुआ प्रमाणान्तर कहता है—

पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः ।
त्रयोह्यश्रुमुखा ह्येते पितरः परिकीर्त्तिताः ।।१।।
तेभ्यः पूर्वतरा ये च प्रजावन्तः सुखोचिताः ।
ते तु नान्दीमुखा नान्दी समृद्धिरिति कत्थते ।।२।। (ब्रह्म पुराण)

ये स्युर्पितामहादूर्ध्व ते स्युर्नान्दीमुखाः

पितरस्वरूपविज्ञानोपनिषत् समाप्त हुई। अब क्रमप्राप्त **सापिण्डविज्ञानोपनिषत्** की ओर श्रद्धालु पाठको का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

इति—पितरस्वरूपविज्ञानोपनिषदि प्रेतपितरविज्ञानोपनिषत् समाप्ता

इति—श्राद्धविज्ञाने
पितरस्वरूपविज्ञानोपनिषत् समाप्ता

– २ –



शुद्धिपत्रम्

पृष्ठ सख्या	पक्ति सख्या	अशुद्ध	शुद्ध
५	१३	।।२।।	।।३।।
५	१६	प्रमाण्यवाद	प्रामाण्यवाद
७	२	योगसाध्या	योगसाध्य
७	२८	विपयो	विषयो
८	१७	।१२०।२।	१।६
९	१४	वेदवाह्या	वेदबाह्या
९	२५	चर्म्म	चर्म्म
११	२	ही	ही
११	१७	दृष्टर्थो	दृष्टार्थो
११	२९	ससहता	सहिता
१२	२४	१०।१।१	१०।१५।१
१३	५	गूलह	गूळ्ह
१३	१२	स्वधाभिर्दे वि	स्वधाभिर्दे वि
१४	१६	१०।१४।१०।११	१०।१४।१०–११
१५	१४	सुनवो	सूनवो
१५	१९	शुक्रभुक्त	शुक्रगत
१६	२	तेभ्य स्वराऽ	तेभि स्वराळ्
१६	१६	पितृन्	पितॄन्
१७	१३	पितृन्	पितॄन्
१९	२	पितृन्	पितॄन्
१९	१६	प्रतिरात्यायु	प्रतिरत्यायुः
२०	१३	कामदुधा	कामदुघा
२१	९	दक्षिणानि	दाक्षिणानि
२२	२१	पितृणा	पितॄणा
२२	२६	है।	है।
२६	५	इवही	इव हि
२७	२४	सौम	सोम
२७	२४	पितृन्	पितॄन्

पृष्ठ सख्या	पक्ति सख्या	अशुद्ध	शुद्ध
२८	३	आमादयात्	आमात्
३०	१	इत	इन
३१	४	"पितर".	"पितर"
३१	१६	स्यषिर	स्थविर
३३	१६	मनुष्य पितर	मनुष्य-पितर
३३	१७	मनुष्य पितर	मनुष्य-पितर
३५	२६	अशानाया	अशनाया
३६	२	अव्यवहितोतर	अव्यवहितोत्तर
३६	२६	कोइ सकी	को इसकी
४०	२	सर्वक्षा	सर्वथा
४१	५	अवच्छेदकावच्छिन्न	अवच्छेदकावच्छिन्न
४२	१०	सनातन धर्म्धी	सनातन धर्मी
४३	१	सीदानी	सीदन्ति
४४	१७	समाप्ता	समाप्ता
४५	५	थिसानोपनिपत्	विज्ञानोपनिपत्
४६	१	सर्वम	सर्वम्
४६	३	भेद भिन्न	भेद-भिन्न
४६	२८	प्रक्षर	अक्षर
४७	५	मृष्टि	सृष्टि
४७	६	बीजमव्ययम'	बीजमव्ययम्"
४७	१२	अव्ययानुगृहित	अव्ययानुगृहीत
४८	२२	प्रशव	पशव
४६	२८	से	के
५४	६	तत्त्व ह	तत्त्व ही
६३	८	प्राणात्माविज्ञानोपनिषत्	प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्
६७	१६	पृथिव्यास्ति	पृथिव्यस्ति
६७	२०	विघृति	विधृति
७७	२४	अङ्गिरा-भृग	अङ्गिरा-भृगु
७८	६	तत्त्वा भव्यक्ति	तत्त्वाभिव्यक्ति
८१	१२	वसर्वोऽष्टौ	वसवोऽष्टौ
८४	२६	द्वितीयायावतस्थे	द्वितीयावतस्थे

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
८८	६	प्राणाप्मविज्ञानोपनिषद्	प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्
८६	७	प्रधान	प्रधान
६०	१५	अग्निवै	अग्निर्वै
६२	१८	सुरक्षित मे	सुरक्षित रहने मे
६४	१	पतिप्ठायेद	प्रतिष्ठायेद
६४	२४	भग-प्राण को	भग-प्राण का
६५	६	शक्तिधनसूर्य्य	शक्तिघनसूर्य्य
६५	११	प्रवग्यन्ति	प्रवर्ग्यन्ति
६५	१२	सत्तव्	तत्तव्
६५	१३	भूतो का	भूतो की
६५	१७	(शत० ६)	(शत० ६।२।१।२)
६६	२२	अवर	अवसर
६७	१८	(ता० १४।२४)	(१४।२।४)
१००	१५	दो-दो	दो
१०४	२४	है।	है।
१०७	६	इन्दुतत्त्व	इन्द्रतत्त्व
१०७	१०	(३६००)	(३६०००)
११२	१८	ब्रह्मण	ब्रह्मणा
११४	२५	दसवे	नवे
११५	२८	सौर-वान्द्र	सौर-चान्द्र
११६	२१	भौम	सोम
११६	२५	अम्भ	अम्भ
१२३	८	अपेक्षा	अपेक्षा से
१२५	१०	सुस्वधावा	सुस्वधावा
१२७	१४	अन्तभवि	अन्तर्भाव
१२८	२	सप्तप्राण	सप्तप्राणाः
१२८	१६	मनमाना बना	मनमाना पाठ बना
१२६	१६	सोपोपहूता	सोमोपहूताः
१३३	२१	सम्बन्ध	सम्बद्ध.
१३३	२२	सम्बन्ध·	सम्बद्ध.
१३४	२०	अ ोरात्रवि	अहोरात्र वि०

पृष्ठ सख्या	पक्ति सख्या	अशुद्ध	शुद्ध
१३४	२५	सूर्य्य हि	सूर्य्यो हि
१३५	१६	तष्मादे	तस्मादे
१३८	३	शप्द	शब्द
१३८	२२	कालेऽग्निकरण	कालेऽग्निकणा
१४०	५	वशकलनधर्म्मा	विशकलनधर्म्मा
१४०	२१	भूतान्यन्तर्बहि	भूतान्यन्तर्वहि
१४२	१०	शदद्धेमन्त	शरद्धेमन्त
१४३	२	सोमवदभ्य	सोमवद्भ्य
१४३	३	सोमार्य वा	सोमाय वा
१४४	१५	पितृमान	पितृमान्
१४५	त्रिभुज	सापिण्ड्	सापिण्ड्य
१५३	६	अश्वस्थमेधस्थ	अश्वस्यमेधस्य
१५३	१४	रच-रच	स्व-स्व
१५८	१६	साख्य	साख्य

